Chapter-3

तृतीय अध्याय

नवगीतों में आम आदमी की भूमिका

नवगीतों में आम आदमी की भूमिका

यह सर्व विदित है कि नवगीत का जन्म ही आम आदमी से जुड़े लोक प्रांगण में हुआ है। छायावादी कल्पना–क्षितिज से गीतहंस जब जमीन पर उतरकर मिट्टी के ढेर से दाने बीनकर चुँगने लगा तब साहित्य जगत में नवगीत का उदय हुआ। नवगीत में न तो शोषित और दमित वर्ग की ही भागीदारी की कसम खाई गई है और न ही ऊच्चवर्ग की सामाजिकता से परहेज किया गया है। वस्तुतः सामान्य लोक जीवन की साधारण जीवन शैली से रुबरु होते हुए नवगीत के अन्दर आधुनिक भारतीय समाज का व्यापक पटल समाहित है, जिसमें मेहनतकश मजदूर है, पसीना बहाता किसान है, तेली, नाई, बढ़ई, लुहार, बनिया, बामन, क्लर्क, मास्टर, व्यवसाई आदि सभी हैं, तो दूसरी ओर आत्मीय सम्बन्धों की पावन सुगंध भी समाहित है, जिसमें माँ, बाप, बहन, भाई, दादा, दादी, भाभी, काकी, चाची, पति, पत्नी, प्रेयसी आदि की संवेद्य सद्भावनाएँ सन्निहित हैं। इसमें मुहल्ला, पड़ौस, गाँव, चौपाल, पंचायत, राजनीति, नगर, घर, राष्ट्र, संस्कृति और संस्कारों के व्यापक विषय भी समाहित हैं।

आम आदमी की नवगीत में हाजिरी इसी से आभासित होती है कि इसमें आत्मीय रिश्तों के सुखद संयोग समाहित हैं, टकराव या अन्तराल का वैमनस्य नहीं है।

सामाजिक परिवेश सर्वप्रथम आम आदमी की अस्मिता घर से जुड़कर अपनी पहचान दर्ज कराती है। नवगीत में समाहित इन तमाम तथ्यों को पृथक पृथक रूप से उद्घाटित करना उपयुक्त होगा।

इन इकाइयों को व्यक्त करने से पहले यहाँ यह भी स्पष्ट करना अपेक्षित है कि नवगीत में आम आदमी की उपस्थिति का अर्थ है लोक सम्पृक्ति का समन्वय अर्थात जनगीत में व्याप्त लोक जीवन के परिदृश्यों का संयोजन।

लोक की समन्विति :

आज हमारा देश तकनीकी एवं व्यावसायिक ज्ञान के क्षेत्र में अपनी वैश्विक पहचान बना चुका है। साथ ही भारतीय संस्कृति की समृद्ध परम्परा से जुड़ा हुआ है। यह हमारे लोक संस्कार हैं जिन्होंने हमें हमारी पहचान से जोड़े रखने का बल प्रदान किया है। इस लोकसंस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता को सुरक्षित रखने के लिए हमारे लोक–संस्कार और लोक साहित्य के परम्परित आयाम अधिक सार्थक और उपदेय सिद्ध होते हैं।

लोक साहित्य की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए डॉ. सुरेश गौतम का कथन है कि ''लोक का व्यापकत्व मीमांसित सत्य है, जिसे स्वीकारना ही अपनी जड़ों से जुड़ना है। अतः लोकसाहित्य मनुष्य और मनुष्यत्व का साक्षीत्व है। यह पहले भी कहा जा चुका है कि लोक हमारे जीवन का समुद्र है। उसमें भूत, भविष्य, वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है। किसी भी राष्ट्र की सांस्कृतिक मौलिकता का रसस्रोत लोकसाहित्य ही है। 'भोले भाव मिले रघुराई' की तरह इस भोली अलौकिक

लोकवाणी में राष्ट्र की स्वायत्त सौन्दर्य भावना और जीवन की अकृत्रिम और मिट्टी की सुगन्ध लिए राष्ट्रीयता व्यक्त होती है। इस प्रकार से कहा जाए तो लोक परम्पराएँ दैनंदिन जीवन की महक को सुरक्षित रखती हैं। यदि हम किसी राष्ट्र की अन्तर्भावना सिद्धान्तमूलक जीवन पद्धति का परिचय प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें इस लोक संस्कृति का ज्ञान करना होगा। यह ज्ञान हमें मुख्य रूप से लोक–साहित्य द्वारा प्राप्त होता है।''[1]

लोक साहित्य में आम आदमी की सामाजिक भागीदारी समन्वित होता है। ''लोकगीतों में समाहित इस तथ्य को आभासित किया जा सकता है। लोक गीतों की मूल परम्परा मौखिक है, इसीलिए शास्त्रीय दृष्टि से इसे शैल्पिक गठन का कोई प्रारूप नहीं बन पाया है। इसके बावजूद यह सर्वाधिक जीवन्त और हरियाली विधा है, जिसमें हजारों वर्षों का हमारा सांस्कृतिक इतिहास सुरक्षित है। इन्हीं के कारण गतिशील परम्पराएँ व संस्कार आज भी हमारा मार्गदर्शन करते हैं। ये गीत आस्था, विश्वास, एकता का आलोक आचरण हैं। सनातन संघर्ष और जीवट – जिजीविषा की ऐतिहासिक बीजभूमि का यह उर्वर दर्शन अपने आप में मनुष्य चेतना का इतिहास लोक है।''[2]

लोक साहित्य का अधिक जनाग्रही प्रसारण लोक कथाओं से संभव हुआ है। ''किसी भी देश के लोक सांस्कृतिक परिदृश्य को जानने–समझने के लिए लोक कथाएँ अन्यतम मानक हैं। यदि किसी ऐसी कथा की कल्पना की जा सकती है जो वक्ता के बिना स्वतः अपनी कथा कहे, तो ऐसी कथा लोककथा ही हो सकती है। व्यापकता एवं प्रचुरता की दृष्टि से इनके समक्ष कोई नहीं ठहरता। लोक जीवन की समस्त उपलब्धियाँ और त्रासदियां इन कथाओं की गोद में क्रीड़ा करती हैं। जीवन के

1. लोक साहित्य – डॉ. सुरेश गौतम – संजय प्रकाशन, नई दिल्ली से प्रकाशित

2. वही, पृ. 114

सम्पूर्णत्व को समेटे इन कथाओं में जन–मानस का हर्ष–विषाद, आस्था–नैराश्य, कर्म–आलस्य, पर्व–उत्सव, ईर्ष्या–द्वेष, वेदनागर्थित सत्य, आनन्दमूलक क्षण–सभी कुछ बूंद–बूंद भरा समुद्र कलश है। लोक साहित्य की यह कथा–यात्रा अनन्त है। लोक कथाएँ चूंकि लोक की उद्दाम लालसा और उमंग की अकुण्ठ अभिव्यक्तियां हैं, इसलिए इन कहानियों में आज के कथा साहित्य सरीखे रोते–सिरते अपनी जड़ता में शून्य हो गए अकर्मण्य बुद्धिजीवियों का जमावड़ा नहीं, सांसारिक समस्याओं से जूझकर अपनी हस्ती को स्थापित करते रणबांकुरों का बुद्धिचातुर्य है। नवीन अनुसंधानों से यह सिद्ध हो चुका है कि भारतवर्ष ही वह देश है जहां आदिकाव्य की तरह ही लोक कथाओं का जन्म हुआ है।''[1]

लोक कथाओं में ही लोक गाथाएँ समाविष्ट हैं। 'लोक गाथा' शब्द से केवल परम्परा का बोध होता है अपितु लोक स्वभाव और लोक चित्त की अनुभूति भी होती है, क्योंकि यह शब्द लोक–जीवन के अधिक निकट है। संस्कृत ग्रन्थ अमर कोष के अनुसार–पितरगण, परलोक और ऐसे ही अन्यान्य विषयों से सम्बद्ध अनुश्रुतियों पर आधारित जो पद या गीत गाए जाते हैं उन्हें गाथा कहते हैं।

वर्तमान में भारतीय संस्कृति के विघटित स्वरूप को देखकर डॉ. सुरेश गौतम चिंता व्यक्त करते हैं, वह कहते हैं कि ''दूब..... दधि.... अच्छत....... लोक लोकोक्तियों का जीवंत कला मुहावरा, जो लोक संगीत की सहस्त्रधार शिव सूक्ति है। कला की बारीक महीन बुनावट में गूंजता पाषाण नाद, इतिहास का ऐसा काल–चक्र–रस, जो भीतर धड़कने लगता है, संवाद करता है, थाप देता है, जल–तरंगों की लय पर थिरकता है और पसर जाता है रुधिर कणों सांसों की वसीयत बनकर। तीसरे कोण पर समानता–असमानता की इन कला वीथियों में रेतीले आंचल में रोमांस करता

1. डॉ. सुरेश गौतम, धार पर हम, संपा. वीरेन्द्र आस्तिक, भूमिका से

ठहरा, ठिठका राजस्थान का कला वैभव। ऐसी कलाओं की उत्कर्ष लीला का प्रति संसार है। भारत के अन्यान्य प्रदेश जो सूर्यपलक पर नीर कुम्भ से रखे हैं। कितने कोण, हजारों वर्षों की कला परम्परा हमारे साथ-साथ चलकर हमारे जीवन को सफल और सुन्दर बनाते-बनाते आज के भूमण्डलीकृत बाजार में सिसकती, खोती, सिमटती जा रही है। क्यों? यह चिंतन का विषय है।''[1]

आधुनिक युग में जो साहित्य सृजित हुआ उस पर परम्परित स्थापित मूल्यों का प्रत्यक्ष प्रभाव रहा है। भारतेन्दु युगीन गीत काव्य मुख्यतः श्रृंगार, भगवद्भक्ति एवं देश-प्रेम पर ही आधारित थे। इन काव्यों में समस्यापूर्ति को अधिक महत्व दिया गया था। द्विवेदी युग तक आते-आते हवा बदलने लगी, जन-रुचि बदलने लगी। अतः भक्ति, श्रृंगार, समस्यापूर्ति जो भारतेन्दु युगीन गीत-काव्य का विषय था उससे सहृदय ऊब गये थे। इसी समय 1903 में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी का आगमन हुआ, जिन्होंने विविध विषयों पर कविता लिखने, सभी प्रकार के छन्दों का उपयोग करने तथा सभी काव्यरूपों को अपनाने का परामर्श दिया। द्विवेदी युगीन काव्य में भारतेन्दु युगीन काव्य की तुलना में अपने सामाजिक बोध और लोक-भाषा खड़ीबोली के कारण नवीनता और ताजगी तो थी, पर वह निबन्धात्मक और इतिवृत्तात्मक अधिक था। उसमें गीत-विधा जैसी भावात्मकता तथा अभिव्यंजना का अभाव था। इसलिए इस युग में नवगीत के विकास को अवसर प्राप्त नहीं हुआ। द्विवेदीकालीन कविता रीतिकालीन रूढ़ियों को तोड़कर सामान्य जनजीवन की समस्याओं की ओर उन्मुख हुई थी, उन्हें छायावादी आलोचको ने 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म' का विद्रोह कहा हैं। फिर भी छायावादी काव्य में रीतिकाल व्रजभाषा काव्य एवम् द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मक काव्य की तुलना में नवीनता और ताजगी थी। उसके कारण छायावादी

1. **लोक साहित्य – डॉ. सुरेश गौतम, पृ. 66**

गीतों की एक सशक्त धारा प्रवाहित हो चली जो सन् 1920 से 1940 ई. तक हिन्दी काव्य की प्रमुख काव्य धारा के रूप में विद्यमान थी। छायावादी काव्य की अभिव्यंजना पद्धति में नवीनता और ताजगी थी। छायावादी काव्य में जीवन की सूक्ष्म-निभृत स्थितियों को आकर प्राप्त हुआ है, उसकी काव्यशैली में मानवीकरण आदि अनेक विशेषतायें मिलती हैं। उसकी अभिव्यंजना पद्धति भी नवीनता और ताजगी लिये हुए है। इसकी अभिव्यंजना अर्थ गांभीर्य के उत्कर्ष तक पहुँच गई है। महादेवी की 'दीपशिखा' की ये पंक्तियाँ देखिए :

''झर चुके तारक-कुसुम जब / रश्मियों के रजत-पल्लव,
सन्धि में आलोक-तम की / क्या नहीं नभ जानता तब,
पार से, अज्ञात वासन्ती / दिवस-रथ चल चुका है।''[1]

छायावादी काव्य व्यक्तिनिष्ठ और कल्पनाप्रधान है। प्रसाद, महादेवी वर्मा, पंत, निराला आदि अनेक कवियों ने अधिकतर अपनी सुख-दुःखमयी अनुभूति को ही मुखर किया है। छायावादी काव्य में मनोजगत की गहराई को वाणी में संजोने का प्रयत्न किया गया है। छायावादी चेतना की अन्तर्मुखी दृष्टि में सृष्टि का निषेध नहीं है, परंतु आध्यात्मिकता के स्तर पर सृष्टि की साग्रह स्वीकृति है, जो कर्मवाद से जुड़ जाती है। छायावाद के प्रारंभ के साथ गीतकाव्य का नवोन्मेष अवश्य हुआ परंतु छायावादी काव्य में आध्यात्मिकता, आदर्शवाद और कल्पना की अतिशयता इतनी अधिक थी कि वह जन सामान्य को आकर्षित नहीं कर सका। **''छायावादी गीत बुद्धिजीवी वर्ग या बहु पठित समाज की मानसिकता वाले तथा भारतीय पुनर्जागरण की प्रवृत्तियों से प्रभावित शिष्टवर्गीय रचनाकारों की देन थे। अतः नवीनता से पूर्ण होते हुए भी उन्हें नवगीत नहीं कहाँ जा सकता।''**[2] अर्थात् यह काव्य संस्कृत की अलंकृत

1. महादेवी वर्मा, दीपशिखा से
2. वीरेन्द्र मिश्र, झुलसा है छायानक धूप में, पृ. 21

रचनाओं की तरह केवल विशिष्ट वर्ग तक ही सीमित रह गया। फलतः छायावाद के दूसरे चरण में नये और युवा कवियों ने छायावादी काव्य के कथ्य और शिल्प से विद्रोह किया। नरेन्द्र शर्मा, बच्चन, भगवती चरण वर्मा, अंचल, नेपाली आदि रचनाकारों ने ऐसे गीत लिखे, जिनकी भाषा जनसामान्य की बोलचाल की भाषा के समीप थी। जिनमें जीवन की वास्तविक स्थितियों, वैयक्तिक, भावनायें तथा स्थूल सौन्दर्य की अनुभूति और प्रणय भावना को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया गया था। यह उत्तर छायावादी गीत, छायावादी गीतों की तुलना में नवीनता और ताजगी से युक्त था।

इसी के साथ पाश्चात्य साहित्य में प्रादुर्भूत प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद की प्रवृत्तियों का प्रवाह हिन्दी काव्य में भी प्रवाहित हुआ। प्रगतिवादी काव्य व्यक्तिवादी यथार्थ के बन्द कमरे से निकलकर जन-जीवन के बीच प्रवाहित हुआ। इस धारा के प्रमुख कवियों में पन्त, निराला, केदारनाथ अग्रवाल, रामविलास शर्मा नागार्जुन, शिवमंगल सिंह 'सुमन', त्रिलोचन और मुक्तिबोध हैं। नागार्जुन की इन पंक्तियों में शिक्षा-पद्धति की यथार्थता दृष्टिगत होती है –

''घुन खाये शहतीरों पर की बाहरखड़ी विधाता बांचे,
फटी भीत है, छत चूती है, आले पर बिस्तुइया नाचे,
बरसाकर बेबस बच्चों पर मिनट-मिनट में पांच तमाचे,
इसी तरह से दुखरन मास्टर गढ़ता है आदम के सांचे।।''[1]

फिर भी **''प्रगतिवादी मानसिकता इतनी व्यापक न हो सकी कि वह अपने देश के सभी कवियों की मानसिकता बन सके। ... प्रगतिवाद के बाद के कवि चाहे वह जिस वाद से संलग्न रहे हों, अपनी निजी इकाई को ही महत्वपूर्ण इकाई मानने लगे।**

1. नागार्जुन, युगधारा से

वे अपने अहं को और अपनी काव्य कला को सर्वोपरि महत्व देने लगे। इसीलिए कुछ कवियों ने कविता को प्रयोगवादी बना डाला।''[1] चाहे वह प्रगतिवादी काव्यधारा हो या प्रयोगवादी काव्यधारा हो, वह अपनी वैयक्तिकता से बाहर निकलकर आम आदमी की वैयक्तिकता के साथ जुड़ नहीं सकी। तो प्रयोगवादी काव्य मुक्त, छन्द की प्रवृत्ति के कारण भी गीत काव्य का विरोधी था, जिसके फलस्वरूप भी वह धीरे धीरे हिन्दी साहित्य की दृष्टि से लुप्त होता गया। तो स्वच्छन्दतावादी–व्यक्तिवादी गीत धारा भी अपनी ओछी भावुकता और रोमानी मनोवृत्तियों के कारण पाठकों के ह्रदय तक नहीं पहुँच पायी। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जो नवीन–काव्य धारा उत्पन्न हुई, उसे 'नयी कविता' कहा गया। इस नयी कविता में मुक्त छन्द एवम् छन्दमुक्त शैली में लिखी गई रचनायें और छन्दोबद्ध गीत, प्रगीत आदि को शामिल किया गया।

स्वातंत्र्योत्तर काल में छायावादी, प्रगतिवादी और राष्ट्रवादी गीतों का प्रचलन लगभग समाप्त हो चुका था। व्यक्तिवादी–स्वच्छन्दतावादी गीत परम्परा ह्रासशील होती हुई लिजलिजी भावुकता और यथार्थ से कटी हुई रूमानियत के धरातल पर पहुँचकर कवि–संमेलनी मंचों तक ही सीमित रह गई थी। डॉ. शंभुनाथ सिंह इस सम्बन्ध में स्पष्ट कहते हैं, कि – **''प्रसाद, निराला, महादेवी वर्मा तथा पन्त आदि छायावादी कवियों ने जिस गीत–विधा को उच्चता के शिखर तक पहुँचाया था, वहीं छायावादोत्तर, व्यक्तिवादी–स्वच्छन्दतावादी कवियों के हाथों पड़कर यह गीत–विधा शिखर से नीचे ढलानों पर खिसक आयी और परवर्ती कवि–सम्मेलनी कवियों तथा अन्य नाना उपनामधारी छुट भैयों ने उसे तलहटी में घसीटकर बाजारू धरातल पर पहुँचा दिया। परिणामतः पिछले तीस वर्षों में पारम्परिक गीत कवि–संमेलनी मंचों पर सुगम संगीत, कव्वाली, ग़ज़ल, भजन आदि के स्तर पर पहुँचकर काव्य की सीमा से**

---

1. नवगीत, संवेदना और शिल्प, डॉ. सत्येन्द्र शर्मा, पृ. 85

बाहर चला गया है।''[1]

डॉ. रामदरश मिश्र भी कहते हैं – **''नयी कविता लिखते हुए भी मुझे कुछ ऐसा अनुभव होता है कि कुछ ऐसा छूट गया है जो 'गीत' के माध्यम से व्यक्त होने के लिए आकुल है।''**[2]

डॉ. रामदरश मिश्र की बात को ही हम दोहराये तो कह सकते हैं कि गीत की जो आकुलता है, वह है संवेदना–रागात्मकता। छायावाद से लेकर या उससे भी पहले भारतेन्दु युगीन गीतों की बात करें तो, उसमें यही गहन–रागात्मकता का अभाव हमें खलता है, जो आज के नवगीत में है। नवगीत के पहले जितनी भी काव्य रचनायें हुई उसमें विशिष्ट भावबोध अवश्य था, पर जो कवि के कवित्व को सूक्ष्म, धारदार व सम्प्रेक्षणीय गुण धर्म देती है, वह गहन रागात्मकता का उसमें अभाव था।

नयी कविता के सामने भी अनेक प्रश्न, उपस्थित हो चुके थे। इन कविताओं का विन्यास गद्यात्मक हो गया था। तो साथ ही वस्तु और शिल्प की ताजगी भी उसमें न रह गयी थी। वस्तु–शिल्प के साथ–साथ ऊपर लिखे मंतव्यानुसार उसमें नये संवेदनों की भी आवश्यकता थी। और यह सारी बातें मोटे तौर पर नयी–कविता के ही समानान्तर चलती काव्यधारा नवगीत में हमें नजर आती है। नवगीत में सीमित संवेदनाओं का आंकलन नहीं है। यह काव्य–रूप अपने पूर्ववर्ती अन्य काव्य–रूपों की तुलना में अत्यन्त जीवन्त है। डॉ. प्रभाकर माचवे ने नवगीत को ''भारतीय अस्मिता की मनोभूमि'' कहा है।

हर युग और उस युग में सांस लेता इन्सान निरंतर आगे बढ़ता रहना चाहता है, और इसी वजह से वह पुरानेपन की, जनी काई से निकलकर नये लहराते सा जल की तलाश में रहता है। यही बात कवि और श्रोता दोनों की भी है। दोनों अपने युग के

1. नवगीत अर्धशती, पृ. 71

2. भव्य भारती, अंक–20, पृ. 17

साथ कदम मिलाते चलना चाहते हैं, कुछ नया प्राप्त करना चाहते हैं। इसी ख्वाइश ने ही नवगीत को जन्म दिया है। **''नवगीत ही संपूर्ण हिन्दी कविता का एक मात्र ऐसा प्रारूप है, जिसमें आवृत्तियों, पुनरावृत्तियों एवं रूढ़िबद्धताओं से मुक्त सर्वथा स्वतंत्र और नव्यताकामी, उत्कर्ष–संवेदना है, जो शिल्प के स्तरों पर विशेष रूप से परिलक्षित होती है। उस पर ''कार्बन राइटिंग का'' वैसा आरोप नहीं लगाया जा सकता जैसा कि 'नयी कविता' पर प्रायः लगाया जाता रहा है।''**[1]

नवगीत काव्य–धारा हमारे साहित्य में इसलिए भी आवश्यक है कि उसने परंपरागत काव्य रूढ़ियों के शैवाल को झटककर एक नया और स्वस्थ कलवेर धारण किया है। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता के ढाई दशक अपनी काव्य–परम्परा और संस्कृति से बेगाने हो पश्चिमी काव्य–पद्धति और जीवन बोध का अनुसरण करते हुए लगभग अपनी जड़ों से ही कट गये थे। जिस तरह जड़ विहीन वृक्ष शुष्क हो जाता है, वैसे ही ये कवितायें भी शुष्क होती गई थीं। तभी नवगीतकारों ने नवगीत की रचना के माध्यम से अपनी जड़ों से जुड़े रहना और उससे रस ग्रहण करना अनिवार्य समझा। इसी बात को लेकर डॉ. सत्येन्द्र शर्मा अपने नवगीत संवेदना और शिल्प में लिखते हैं– **''नवगीत में भारतीयता का स्वरूप भारतीय जीवन पद्धति, आचार–विचार, दृष्टिकोण, मान्यताओं और मूल्यों की अवधारणा में व्यक्त होता है। पर्वो, उत्सवों और संस्कारों के प्रति निष्ठा का भाव तथा स्वाभाविक शान्तिकामी प्रवृत्ति में उसकी सांस्कृतिक चेतना प्रकट हुई है। देशज भाषा की महत्ता के जरिए अपने परिवेश से सहज लगाव को उद्घाटित किया है। पौराणिक ग्रन्थों के कथा संकेतों, पात्रों, प्रतीकों, मिथकों, ऐतिहासिक वृतान्तों, सामाजिक विश्वासों लोक मान्यताओं, अनुष्ठानों और रस्म–रिवाजों का यथा प्रसंग अंकन नवगीत में भारतीयता से संस्कारगत जुड़ाव की पहचान है।''**[2]

---

1. डॉ. राजेन्द्र गौतम, हिन्दी नवगीत, उद्‌भव और विकास, पृ. 40
2. नवगीत संवेदना और शिल्प, डॉ. सत्येन्द्र शर्मा, पृ. 89

नवगीत ने सिर्फ भारतीयता को ही नहीं अपनाया बल्कि विश्व–साहित्य की चेतना को भी अपने भीतर समाहित किया है।

''नवगीत आज की कविता का ऐसा रूप है जो पूर्वापर निष्ठा, संवेदना और विशुद्ध मानवीयता से युक्त पूर्ण यथार्थ से साक्षात्कृत अनुभूतियों की काव्यभिव्यक्ति है।''[1]

नवगीत में लोकासक्ति उसकी भावचेतना में अन्तर्भुक्त है। इसका मनोवैज्ञानिक आधार भी है। यही नवगीत की प्रकृति है। इसका एक उदाहरण दृष्टव्य है –

''यारों इतनौ जस कर लीजौ / चिता अन्त न कीजौ /

चलत सिरम में बहै पसीना / भसम पै अन्तरु भींजौ /

* * * *

गंगा जू लों मरें 'इसुरी' / दाग बगौरा दिजौ।''

तो नवगीत में जो आत्मपीड़ा है, उसका वैयक्तिक सरोकार नहीं है। माहेश्वर तिवारी की यह आत्मपीड़ा की अनुभूति सभी रचनाकारों में समान रूप से मिलती है –

''आह, हमने स्वयं को भी / कहाँ स्वीकारा /

गली–सड़कों, पार्कों / काफीघरों में /

तितलियों के पर कुचलती / भीड़ /

उग रहे इन जंगलों जैसे / शहर में /

खो गई है पीठ, गर्दन / रीढ़

हर तरफ है / एक झुर्रीदार अँधियारा।''[2]

अतः कह सकते हैं कि नवगीत भले ही भारतेन्दु युग से चली आ रही गीत

1. नवगीत परंपरा, विविध आयाम, डॉ. सूर्यप्रकाश सिंह, पृ. 49
2. नवगीत संवेदना और शिल्प–डॉ. सत्येन्द्र शर्मा, पृ. 94

विधा का विकसित रूप हो, फिर भी उसमें, अपने पहले की सभी गीत विधाओं से ऐसा नाविन्य है, कि उसने अपने आपको सबसे अलग अपनी पहचान स्थापित करते हुए, अपनी आवश्यकता को स्थापित किया है। काव्य राग के आधार पर जनमुखी, परिवेशगत, प्रकृतिगत, युगबोधक और जीवनाभिमुखी होना चाहिए यह सारी बातें नवगीत में हमें प्राप्त होती हैं। इसीलिए इस युग में जीवन्त रचना करने वाले रचनाकार के लिए, तथा रचना को आत्मसात करनेवाले श्रोता या पाठक के लिए नवगीत अति आवश्यक है। जो हमें अपनी जड़ों से जकड़कर रखता है।

नवगीत का प्रारंभ, प्रयोग और प्रगति :

हिन्दी काव्यकाश में नवगीत का प्रारंभ और विकास अपनी परम्पराओं एवम् परिवेशगत चुनौतियों के आधार पर सहज और स्वाभाविक रूप में हुआ। नवगीत के विकास का प्रारंभिक रूप हमें निराला में मिलता है। यह बात हमें उनके 1923 व 1924 ई. की रचनाओं में प्राप्त होती है।

''मैंने मैं शैली अपनाई / देखा दुखी एक निज भाई''

यहाँ निराला में 'मैं' की सार्वनामिक इयत्ता में सामूहिक सम्पृक्ति दिखाई देती है। इनका 'मैं' किसी सामाजिक की आँसू भरी आँखों में करुणा आंचल का स्पर्श तथा संचित अमृत नवशक्ति का सिंचन सामाजिक भूमि में करने की लालसा रखता है। छायावादोत्तर काव्य में नवगीत में आचरण की पहचान नामक आरंभिक प्रकरण में ही विस्तार से निराला के उत्तरवर्ती गीतों में नवगीत की प्रकृति को देखने–दिखाने की चेष्टा की जा चुकी है। अतः कह सकते हैं कि निराला ने गीत विधा में जो नये प्रयोग किये वे ही कालान्तर में नवगीत के उद्‌गम स्रोत प्रामाणित हुए। परंपरागत गीतों में वस्तु के अतिरिक्त शैल्पिक स्तर पर भी निराला बहुत सचेष्ट थे। यह बात उनके गीत संकलन गीतिका (1932) की लम्बी भूमिका से पता चलती है। 1931 में रचित

उनका 'वर दे वीणा वादिनी वर दे' शीर्षक गीत राष्ट्रीय स्वातंत्र्य की सजग सक्रिय अमृत आकांक्षा भर नहीं हैं बल्कि काव्य क्षेत्र की परम्परा में सर्वागतः नव उन्मेष भरने की स्पष्ट इच्छा शक्ति का उद्घोष भी है –

''वर दे वीणा वादिनी वर दे / प्रिय स्वतंत्र रव अमृत मंत्र नव / भारत में भर दे।

नव–गीत, नव लय, ताल छन्द नव / नवल कण्ठ नव, जलद–मन्द्ररव,

नव नभ के नव विहग–वृन्द को / नव पर नव स्वर दे।''[1]

इस प्रसिद्ध गीत में नव शब्द का विन्यास अनायास या अनुप्रास की छटा मात्र के लिए नहीं हैं। इन शब्दों के प्रयोग करते हुए वह कितने सजग और चैतन्य थे यह हम जानते हैं।

निराला को ही नवगीत के उद्भावक मानते हुए आचार्य नंद दुलारे बाजपेयी का यह कथन ध्यातव्य है कि.... **"नए युग में नई गीत सृष्टि भी हुई हैं ...। निराला जैसे पुराने गीत शिल्पी ने भी नए युग के अनुरूप नई शैली के गीत लिखे हैं।''[2]**

अतः कह सकते हैं कि निराला ही नई शैली के गीत के उद्भावक और उन्नायक हैं। नवगीत की वे सारी विशेषतायें हमें निराला के गीतों में प्राप्त होती हैं, भले ही कई आलोचक इसके विरोधी रहे हों।

नवगीत के विकास को लेकर हम उसे विभिन्न चरणों में विभाजित करेंगे। ताकि उसके विकास को अच्छी तरह से समझ सके।

1. प्रथम चरण : सन् 1925 से 1950 ई. तक :

ढाई दशकों की इस कालावधि को डॉ. सत्येन्द्र शर्मा ने प्रयोग–भूमि कहा है। उनका कहना है कि **''तीसरे दशक के मध्य को नवगीत की प्रयोगभूमि कहना**

1. राग विराग, संपा. रामविलास शर्मा, पृ. 109

2. नंद दुलारे बाजपेयी, आलोचना, अंक–16, पृ. 26

आकस्मिक तौर पर अचरज में डालने वाला कथन लग सकता है किन्तु खड़ी बोली में नए ढंग की गीत यात्रा पर सूक्ष्म विचार करने पर यह सूत्र बखूबी खुलता हुआ नजर आवेगा।

खड़ी बोली में नये गीतों के प्रथम सृष्टिकर्ता प्रसादजी हैं। उनके नाटकों में अनेक प्रकार के नये गीत हैं। छायावाद में रहस्यात्मक अनुभूति, आदर्शवादी दृष्टिकोण, कल्पना की अतिशयता और वायवी सौन्दर्यानुभूति, प्रेमजन्य सुख–दुःख के साथ धुलकर पहली बार प्रसादजी के गीतों में मुखरित हुई। अतः वे खड़ी बोली में नए गीतों के प्रथम 'सृष्टि कर्ता' हुए। फिर भी इन गीतों में नवगीत की विशेषतायें दृष्टिगत नहीं होती। जबकि निराला के अनेक गीत प्रारंभ से ही वस्तु–चेतना में छायावादी भाव–भूमि से बिलकुल अलग थे। उनके अनेक गीत छन्द संरचना की नयी–नयी टेकनिक, भावस्तर परयथार्थोन्मुख जीवन की अभिव्यक्ति और सहज भाषा विन्यास के कारण नये ढंग के गीतों की शुरूआत बनते हैं। तीसरे दशक के मध्य में ही निराला के आरंभिक गीतों में नवगीत का व्यक्तिगत भासित मिलता है। उनके 'अधिवास' (1923), ''गए रूप पहचान'' (1923), ''क्या दूँ'', ''ध्वनि'' (दोनों 1924) आदि गीत देखे जा सकते हैं। ''पतनोन्मुख'' (1923) गीत तो अपने संक्षेप में राष्ट्रीय जन–जीवन के यथार्थ को व्यक्त करने की जो त्वरा लिए हुए है – वह भी प्रकृति के माध्यम से आगे आने वाले नवगीत का संकेत है :

> **''हमारा डूब रहा दिनमान / मास–मास दिन–दिन प्रतिपल।**
> **उगल रहे हो गरल–अनल / हिम–हत–पातों–सा असमय ही /**
> **झुलसा हुआ शुष्क निश्चल / विकल डालियों से /**
> **झरने ही पर है पल्लव–प्राण / हमारा डूब रहा दिनमान।''[1]**

1. निराला – राग विराग से

डॉ. शंभुनाथ सिंह ने निराला कृत ''मातृ-वंदना'', ''शेष'' आदि गीतों को नवगीत का प्रस्थान बिन्दु कहा हैं। और इस आधार पर नवगीत का प्रारंभकाल 1920-21 माना है। जबकि डॉ. सत्येन्द्र शर्मा 1925 से मानते हैं। उनका कहना है कि निराला रचनावली - 1 में इन गीतों की प्रकाशन तीथि क्रमशः 1926 से 1931 दी हुई है। ''परिमल'' (1929), ''अनामिका'' (1939) के संकलनों में ''रूखी री यह डाल'' (1932), ''खुलती मेरी शेफाली'', ''मैं रहूँगा न'' (1936) आदि गीतों में प्रकट आत्मभिव्यंजना के पीछे सामाजिक यथार्थ की परतें हैं। तो ''उक्ति'' (1937), ''मरण-दृश्य'', ''प्राप्ति गीत'', ''और और छवि'' (1938), ''चाल ऐसी मत चलो'', ''बहती निराधार'', ''टूटे सकल बन्ध'' (गीतिका) आदि गीतों का शिल्प विशेष रूप से मननीय है। जिसका बहुविध छन्द विधान नवगीत की प्रेरणा भूमि है।

''अणिमा'' (1943) में संकलित, ''मैं अकेला'' (1940), ''गहन है यह अन्धकारा'', ''स्नेह निर्झर बह गया'', ''मरण को जिसने वरा है'' (1942) आदि गीतों की वस्तुचेतना नवगीत में प्रसार पा गई है। तो ''बेलो'' (1946) व ''नये पत्ते'' (1946) की गीत - चेतना नवगीत में पुष्ट और प्रस्त्रवित हुई है।

तो नवगीत को लोक जीवन की ऊष्मा और मिट्टी की सोंधी गन्ध की काव्यात्मक शक्तिमत्ता की प्रेरणा माखनलाल चतुर्वेदी से प्राप्त हुई। पांचवे दशक के उत्तरार्द्ध में लिखे उनके गीत ''हिम किरीटनी'' (1942), '' (1944) और ''माता'' (1952) में संग्रहीत है। साथ ही गीत-विधा को भाषा और वस्तु दोनों स्तरों पर बालकृष्ण शर्मा ''नवीन'' ने नया मोड़ दिया। नवीन जी के गीत ''कुंकुम'', ''रश्मि रेखा'', ''अपलक'' (1951) तथा ''क्वासि'' (1952) में प्रकाशित हैं। उनके गीतों में विस्तार रहते हुए भी त्वरा में कमी नहीं है।

''भगवती चरण वर्मा के 'मधुकण', 'प्रेम संगीत', 'मानव' तथा 'एक दिन' काव्य संकलन में ऐसे गीत संग्रहीत हैं जो नवगीत की विशेषता लिए हुए हैं। गोपाल सिंह 'नेपाली' के 'उमंग' (1934), 'पंछी' (1934), 'रागिनी' (1935), 'पंचमी' (1942) आदि संकलनों में उनके गीत प्राप्त होते हैं। उन्होंने मानवीय संवेदना में गहरे उतरकर काव्य अभिव्यक्ति को नयी भंगिमा प्रदान की है तो साथ ही प्रकृति का उन्मुक्त और सहज व नैसर्गिक स्वरूप भी उभारा है।''[1]

छायावादोत्तर गीत-काव्य को परिमाणात्मक अधिक समृद्ध करने वाले कवि बच्चन है। 'निशा-निमंत्रण' (1937-38) 'एकांत संगीत', 'आकुल-अंतर' (1943) व 'सतरंगिनी' आदि अनेक गीत-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। छन्द के स्तर पर भी आंशिक ही सही नये प्रयोग इनके गीतों में देखने को मिले हैं।

"नौ अगस्त / नौ अगस्त / देश चोट खा गिरा।

अति आपदा घिरा / और बंद जेल में पड़े हुए वतन परस्त।"[2]

इस कालावधि में पं. नरेन्द्र शर्मा के 'प्रभातफेरी', 'प्रवासी के गीत' (1938), 'पलाश वन' (1939) और 'अग्निशस्त्र' (1950) के गीतों में नवगीत के लिए छंन्दों का वैविध्य तथा प्रकृति का भरपूर साहचर्य मिलता है।

'तार सप्तक' (1943) का प्रकाशन पांचवे दशक के काव्य इतिहास में महत्वपूर्ण घटना है। तारसप्तक को 'प्रयोगवाद' की शुरुआत और अन्ततोगत्वा 'नयी कविता' की प्रवेश भूमि माना गया है। इस संकलन के सातों कवि 'नयी कविता' के प्रतिष्ठित कवि रहे, किन्तु इनमें से गिरिजा कुमार माथुर, राम विलास शर्मा, व मुक्तिबोध जैसे रचनाकारों में नवगीत धारा का सातत्य मिलता है। गिरिजाकुमार माथुर

1. नवगीत संवेदना और शिल्प, डॉ. सत्येन्द्र शर्मा, पृ. 216
2. हरिवंशराय बच्चन-आकुल अंतर से

ने गीतों को नए–नए छन्द परिधान दिए जो पूर्णतः लययुक्त हैं। श्री माथुर परिवर्तित भाव–बोध के सजग गीतकार हैं। उनका 'छाया मत छूना', 'आज हैं केसर रंग रँगे वन' तथा 'नयी कविता' आदि रचनाएँ नवगीत हैं।

राम विलास शर्मा ने गीत बहुत कम लिखे फिर भी उनमें व्याप्त अवध का आंचलिक सौन्दर्य, हार्दिकता, वेग, वर्णात्मकता आदि प्रवृत्ति इस नवगीत विद्या को रचनात्मक किन्तु सांकतिक मोड़ देने में समर्थ हुई है। मुक्तिबोध प्रायः छान्दसिक रहे है। प्रभाकर माचवे की 'राही से', 'प्रेम एक परिभाषा' विशुद्ध नवगीत है। भारत भूषण अग्रवाल की 'जागते रहो' और 'पथहीन' रचनायें स्पष्टतः नवगीत की परिधि में आयेंगी। अज्ञेय की 'भादों की कसम' तथा नेमिचन्द्र जैन की 'क्या भाया?', 'धूल भरी दोपहर' नवगीत का बोध कराती है।

प्रयोगकाल के अन्तर्गत कुछ विशिष्ट गायक शंभुनाथ सिंह, विद्यावती कोकिल, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन व त्रिलोचन सामने आये। नागार्जुन, केदार और त्रिलोचन जो स्वतंत्र भारत की विशिष्ट त्रयी बनकर सामने आये, उनमें से मात्र केदारनाथ अग्रवाल गीत से नवगीत तक की यात्रा जारी रख सके। केदारनाथ अग्रवाल के प्रारंभिक नवगीत 'युग की गंगा', 'नींद के बादल' और 'लोक और आलोक' सभी (1947) में संग्रहीत हैं। कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह का गीत संग्रह 'मेघमाला' भी इसी दौर में प्रकाशित हुआ। इनके नवगीत अपनी धरती, अपने अंचल से, आम जन–जीवन से जुड़े हुए हैं।

चौथे दशक में शंभुनाथ सिंह काव्य मंच पर आये। उनके गीत संग्रहों में 'जीवन गीत' (1943), 'किसी के रूप के बादल' (1943), 'जनधारा' (1948) आदि हैं। शंभुनाथ सिंह ने 1950 तक मात्र वैयक्तिक रोमान या पीड़ा को ही अपने गीतों में महत्व नहीं दिया अपितु उनके 'उदयाचल' (1941–46) के गीत कवि की तब की

भावचेतना के विस्तार के भी प्रमाण हैं। नवगीत विकास यात्रा में उनके छठ्ठे दशक के गीत अधिक महत्वपूर्ण हैं।

शमशेर बहादुर सिंह की पहचान नयी कविता के प्रयोगधर्मी कवि के रूप में है, गीतकार के रूप में नहीं। किन्तु अपनी काव्य-यात्रा के आरंभ में उन्होंने कुछ अच्छे गीत भी लिखे हैं। जैसे 'फिर वह एक हिलोर उठी' (1940), 'वाम वाम वाम दिशा' जिनमें सीधी सपाट अभिव्यक्ति हैं तो कुछेक में कहने का मौलिक ढंग तथा प्रतीकों की नवीनता और नए छन्दों का रचाव है, ऐसी रचनाओं में 'लेकर सीधा नारा' (1941), 'जीवन की कमान' (1941) आदि प्रमुख हैं। उनके गीत 'बात बोलेगी' में संकलित हैं।

शीर्षस्थ आलोचक नामवर सिंह ने छोटे-छोटे गीतों की लोकरंजित शब्दावली में लोक जीवन और प्रकृति की प्रतिच्छवियाँ तथा कवि की अनुभूतियाँ अनुगुंजित की हैं। उन्होंने पारंपरित 'सवैया' और 'घनाक्षरी' छन्द का जो गीतात्मक विन्यास किया है, वह नवगीत रचना के सर्वथा अनुकूल है -

''उनये उनये भादरे /
बरखा की जल चादरें / फूल दीप से जले /
कि पुरवैया सी याद रे / भादरे /
उठे बगूले घास में / चढ़ता रंग बतास में /
हरी हो रही धूप / नशे सी चढ़ती झुके आकास में।
तिरती है परछाइया सीने के भीगे चास में / घास में।''[1]

'नामवर सिंह' के ऐसे गीत 'नीम के फूल' (1950) तथा 'पकी आँखें' में संग्रहीत हैं।

1. नामवर सिंह-पूर्वग्रह, अंक-44-45, संपा. अशोक बाजपेयी, पृ. 56

नवगीत की इस प्रयोग अवधि में रचनाशील अन्य गीतकार केदारनाथ मिश्र, 'प्रभात', जानकी वल्लभ शास्त्री', रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', 'दिनकर', सोहनलाल द्विवेदी, सुमन, तथा निरज आदि हैं। इन प्रत्येक गीतकारों ने हिन्दी गीत–धारा को समृद्ध और पुष्ट किया तथा गीत को नए भाव–बोध से सम्पन्न किया।

2. द्वितीय चरण : सन् 1951 से 1965 ई. :

भारतीय काव्य इतिहास में पाँचवे दशक का उत्तरार्द्ध और छठे दशक का पूर्वाद्ध सर्वाधिक तीव्रगामी और वैविध्य से युक्त संक्रांन्ति काल रहा। 'तार सप्तक'के बहाने छिड़ी काव्य चर्चा ने दूसरा तार सप्तक (1951) के प्रकाशित होते ही तेज गति पकड़ी। प्रयोगवाद, प्रपद्यवाद और अनेकवाद की व्याख्याएँ – प्रतिव्याख्याएँ हुईं और अन्त में नयी कविता प्रतिष्ठित हुई। इसी के समानान्तर कविता की वह गीत धारा जो निरन्तर परिवर्द्धित, पुष्ट और स्थिर स्वरूप पाने के लिए सचेष्ट थी, अधिक प्रशस्त होकर सामने आयी।

नवगीत विकास की दृष्टि से ये डेढ़ दशक सर्वाधिक महत्वपूर्ण कहे जाएँगे, क्योंकि इसी कालावधि में नवगीत की उपेक्षा पर चिन्ता जाहिर की गई और इसके स्वरूप की चिंता की गई तथा नवगीत ने अभिधान प्राप्त किया। काव्य क्षेत्र में स्पष्ट तौर पर यह महसूस किया जाने लगा कि प्रयोगवादी कविता धारा के समकक्ष काव्य–व्यक्तित्व के विशिष्ट लक्षणों तथा पृथक चिन्तन, पद्धति व सांस्कृतिक चेतना से पूरित गीत–गंगा प्रवाहमान हैं।

डॉ. शंभुनाथ सिंह छठे दशक में दिवालोक (1953) और 'माध्यम में' (195) में संग्रहीत नवगीतों के द्वारा न सिर्फ खुद को अभिव्यक्त करते रहे वरन् गीत को अपने कई सर्वाधिक निकट और जातीय चेतना के अनुकूल माध्यम मानकर

निरन्तर नये प्रयोग करते रहे। इन दिनों गोष्ठियों, रेड़ियों, वार्ताओं आदि में वे वाचिक तौर पर नवगीत संज्ञा का प्रयोग करने लगे थे।

बच्चन की प्रणय पत्रिका (1955), 'घाट के इधर–उधर' (1957), 'आरती और अँगारे' (1958), 'त्रिभंगिमा' (1961) और 'चार खेमे चौसठ खूँटे' (1962) गीत केन्द्रित संग्रह प्रकाशित हुए। नवगीत की दृष्टि से 'त्रिभंगिमा' (1961) तथा 'चार खेमे चौंसठ खूँटे' ही महत्वपूर्ण हैं। जिनमें लोक लयों पर आधारित गीत के साथ–साथ अभिनव छन्दों का भी सृजन हुआ है।

डॉ. जगदीश गुप्त ने पाँचवे और छठे दशक में स्तरीय गीतात्मक रचनायें लिखी। 'नाव के पाँव' (1955) तथा 'हिमबिद्ध' संग्रह गीत यात्रा की उल्लेखनीय कड़ियाँ हैं।

'नयी कविता' के पुरोधा 'अज्ञेय' के 'आँगन के पार द्वार', 'अन्तरंग चेहरा', 'पलकों का कंपना', 'एक प्रश्न', 'साँस का पुलता' तथा अनेक अंशी, 'चन्द्रकान्त शिला' जैसी कुछ रचनाओं में गीत व्याप्ति है, किन्तु यह व्याप्ति 'नयी कविता' के आँगन के पार द्वारा तक ही है।

नवगीत विकास यात्रा में दूसरा सप्तक (1951) तथा तिसरा सप्तक (1959) में संकलित रचनाकारों में पं. भवानी प्रसाद मिश्र, नरेश महेता, रघुवीर सहाय, धर्मवीर भारती, केदारनाथ सिंह, कुँवर नारायण, विजयदेव नारायण साही, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना हैं। इनमें पं. भवानी प्रसाद मिश्र की काव्य–चेतना में लोक जीवन और लोक प्रकृति का गहरा पुट है जो नवगीत का प्रमुख उपादान है।

''छोटी–सी एक पहाड़ी है,

है एक नगर, है एक गाँव, वे दोनों मत मिलने पायें,

इस के उपवन के कुसुम नहीं उस के खेतों खिलने पायें

इस लिए खड़ी है सिर ताने, इस लिए बीच में आड़ी है,

छोटी–सी एक पहाड़ी है।''[1]

गीत फरोश (1956), 'चकित है दुःख' (1968) तथा 'अँधेरी कविताएँ के गीत' में नवगीत की प्रेरक भूमि है। नरेश महेता का गीत ''दूसरा सप्तक'' तथा 'वन पाँखी सुनो' में उपलब्ध है, जिनमें अमूत बिम्ब विधान का विरल प्रयोग है। रघुवीर सहाय ने अपने गीतों में छन्द की नवीनता और भाषा की सहजता तथा सरल प्रतीकों का प्रयोग कर लोगों का ध्यान आकर्षित किया है। इनके गीत दूसरा सप्तक तथा 'सीढ़ियों पर धूप' में आए है। नवगीत में जल–सी निर्मल, मणि–सी उज्जवल, नवल, स्नात, हिम धवल भाषा, रोमान और लोक जीवन के प्रतीकों के जरिए आधुनिक भावबोध को धर्मवीर भारती ने व्यक्त किया है। उनके 'ठण्डा–लोहा' (1952) तथा 'सात गीत वर्ष' (1959) के गीत युग संक्रान्त के मर्मस्पर्शी बोल हैं।

कुँवर नारायण ने छोटे चरणों वाले छन्दों में सरस बोलचाल की भाषा में आधुनिक भावबोध से युक्त नवगीत लिखे हैं। 'चक्रव्यूह', 'परिवेश–हम तुम' में उनके नवगीत समाविष्ट है। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना 'तिसरा सप्तक' के ऐसे कवि हैं, जिन्होंने सर्वाधिक गीत लिखे हैं। 'काठ की घंटियाँ' के इनके गीत विशेष तौर पर दृष्टव्य हैं। विजयदेव नारायण साही के गीत 'तिसरा सप्तक' में 'मानवराग', 'संग–संग के गान', 'माघ दस बजे' आदि उल्लेखनीय हैं। वीरेन्द्र मिश्र छठे दशक में नवगीत की 'खिलती किरन' लेकर आए। उनके गीत संग्रह 'गीतम' (1953) तथा 'लेखनी बेला' सभी रचनायें नवगीत नहीं हैं किन्तु इन संग्रहों में अनेक अच्छे नवगीत भी हैं। गीतों में टकसाली बोली और अपरिचित उपमान का विन्यास उनके गीतों में मिलता है,

1. नवधा–संपा. अज्ञेय एवं जगदीश गुप्त, पृ. 57

वह विरल है –

"जिस समय से रचा गीत है

वह नयन का नया गीत है

इक दुल्हन की तरह।"[1]

नवगीत विकास क्रम में 'वंशी और बादल' का प्रकाशन एक महत्वपूर्ण घटना है। '51' में पहली बार ये गीत प्रकाश में आये, तब इनमें अज्ञेय को हिन्दी कविता के नए वातायन खुलते दीख पड़े थे। इन गीतों के द्वारा पूर्वांचल स्थित 'संथाल' क्षेत्र के आदिवासियों की लोक–चेतना को लोक–लय आश्रित छान्दसिक अभिव्यक्ति मिली। इसके अतिरिक्त मुजफ्फरपुर (बिहार) से प्रकाशित 'गितांगिनी' (1958) नवगीत के क्षेत्र में एक असाधारण उपलब्धि है। संपादक राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने इसमें 'नये ढंग के गीत' के लिए लिखित परम्परा में 'नवगीत' अभिधान का सर्वप्रथम प्रयोग किया और नवगीत संज्ञा सर्वमान्य होकर प्रचलन में आ गई। उन्होंने नामकरण बोध के साथ नवगीत के पंचतत्व जीवन दर्शन, आत्म निष्ठा, व्यक्तित्व बोध, प्रीति तत्व और परिसंचय को भी प्रस्तुत किया। 74 कवियों की गीत रचनाओं के साथ 'गीतांगिनी' संग्रह प्रकाश में आया। इस प्रकार उन्होंने नवगीत की घोषणा कर उसको, विकासात्मक दिशा देने तथा चर्चा केन्द्र बनाने में भरपूर सहयोग दिया।

आलोच्य अवधि में नवगीत रचना के समानान्तर उसके व्यक्तित्व को लेकर शीर्षस्थ रचनाकारों की चिंतनधारा गोष्ठियों, परिसंवादों, आलेखों तथा वक्तव्य आदि के माध्यम से प्रकट होने लगी थी। वीरेन्द्र मिश्र ने दिसम्बर 1956 में प्रयाग के साहित्यकार सम्मेलन में 'नयी कविता नया गीत', 'मूल्यांकन की सीमाएँ' शीर्षक लेख में 'फार्म' और 'काण्टेण्ट' दोनों से समृद्ध 'हिन्दी में एक नए गीत के जन्म' की सूचना

1. वीरेन्द्र मिश्र–लेखनी बेला से

दी। वीरेन्द्र मिश्र अजमेर से प्रकाशित 'लहर' पत्रिका में 1956 से 1964 तक नए गीत के स्वरूप को प्रस्तुत कहते रहे। वासन्ती (1960 अप्रैल) वाराणसी से प्रकाशित पत्रिका में डॉ. शिव प्रसाद सिंह का 'गीत कविता के प्रति ऐसी वक्र भृकुटि क्यों?' लेख सामने आया। 'पाँच जोड़ बांसुरी' के सहयोगी व गीतकार महेन्द्र शंकर के संपादकत्व में प्रकाशित 'वासन्ती' (1962 ई.) में 'गये–गीत नये स्वर' लेख माला में गिरिजाकुमार माथुर, त्रिलोचन शास्त्री, शंभुनाथ सिंह वीरेन्द्र मिश्र आदि ने गीत की परम्परा, बदलते स्वरूप, अनिवार्यता, प्रकृति और नव प्रयोग पर विस्तार से विवेचन किया। इसी के साथ ओम प्रभाकर व भागीरथ भार्गव द्वारा संपादित 'कविता–1964' नवगीत का पहला संकलन प्रकाश में आया। सन् 1963 में परिनिष्ठित शैली में गेयता तथा नये बिम्बों में आधुनिक जीवन के कटु यथार्थ लेकर 'रवीन्द्र भ्रमर के गीत' सामने आए। तो संपादक हरीश भादानी ने 1956 ई. में 'वातायन' में गीत विशेषांक प्रस्तुत किया। तो सातवें दशक के मध्याहन में लघु पत्रिकाओं तथा कथित व्यावसायिक या बड़ी पत्रिकाओं में भी नवगीत चर्चा का केन्द्र बिन्दु रहा। इस संदर्भ में इलाहाबाद से प्रकाशित 'माध्यम' (नवम्बर 1964), 'ज्ञानोदय' (1965), लखनऊ से प्रकाशित उत्कर्ष, 'धर्मयुग' आदि उल्लेखनीय हैं।

वास्तव में छठे दशक में हिन्दी लेखन में तथा नवगीत में आंचलिकता विशेष रूप से परिव्याप्त हुई। लेकिन नवगीत की वस्तु सत्ता आंचलिक दामन में ही सिमट कर नहीं रह गई, वरन् इस दशक के मध्य तक ऐसे नवगीत भी सामने आये जिनमें नगरीय, महानगरीय जीवन की समस्याएँ, आपाधापी और तेजी से हो रहे औद्योगीकरण की तस्वीर भी नजर आती है।

3. तृतीय चरण : 1966 से 1980 ई. तक :

'कविता – 1964' तक आते–आते 'नवगीत' ने लगभग सर्व स्वीकृति प्राप्त कर ली थी। रचना और आलोचना दोनों क्षेत्रों में वह पर्याप्त चर्चा का विषय बन चुका था। नवगीत समकालीन काव्यधारा 'नयी कविता' के समानान्तर समावृत्त और अभिव्यक्ति का सहज भारतीय स्वर बन चुका था।

सन् 1966 व 1967 ई. में दिल्ली से क्रमशः 'गीत–1' व 'गीत–2' के समवेत संकलन प्रकाश में आये, जो नवगीत की पहचान बनाने और उसे प्रकर्ष की ओर ले जाने में महत्वपूर्ण आधार बने। साथ ही अनेक पत्रिकाओं ने भी नवगीत को यथेष्ट समादर प्रदान किया। जिनमें 'ज्योत्स्ना' (पटना), 'ज्ञानोदय' (कलकत्ता), 'कल्पना' (हैदराबाद), 'सान्ध्यमित्रा' (बम्बई), 'वातायन' (बिकानेर) आदि प्रमुख हैं। इन लघु पत्रिकाओं के अतिरिक्त समाचार पत्रों के साहित्यिक पन्नों तथा काव्य मंचों के माध्यम से भी अनेक गीत कवि अपनी नयी वस्तु चेतना लेकर प्रस्तुत हुए। उनमें भवानी प्रसाद तिवारी, मुकुट बिहारी 'सरोज', शान्ति सुमन, भारत भूषण, नईम, ओम प्रभाकर, रामदरश मिश्र, उमाशंकर तिवारी आदि हैं। इनके अतिरिक्त डॉ. शंभुनाथ सिंह, वीरेन्द्र मिश्र, और ठाकुर प्रसाद सिंह के यहाँ भी नवगीत रचना का सातत्य बना रहा।

छायावादोत्तर हिन्दी गीत–विधा में प्रयोगधर्मिता को रेखांकित करनेवाला संकलन 'पाँच जोड़ बाँसुरी' 1969 में प्रकाशित हुआ। इसमें निराला से लेकर नरेश सक्सेना तक के चालीस काव्यकारों की गीत धारा को प्रस्तुत किया गया है। नवगीत की विकास धारा को समझने के लिए यह संकलन बहुत महत्वपूर्ण है।

आठवें दशक में विशुद्ध नवगीत संकलनों की अच्छी खासी संख्या सामने आई। साथ ही सन् 1980 में माहेश्वर तिवारी, देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' व डॉ. भगवतशरण

भारद्वाज के संपादन में 'नवगीतः सर्जन और समीक्षा' नामक ग्रन्थ प्रकाश में आया। इसमें इक्यावन गीतकारों की रचनायें संकलित हैं।

साथ ही नवगीत अब चर्चा के केन्द्र में आ गया। इस दिशा में दिल्ली में 'प्रभा' द्वारा आयोजित बैठक (2 जनवरी 1966) उल्लेखनीय है। इसी वर्ष हिन्दी साहित्य संघ पटना ने भी एक संगोष्ठी आयोजित की। इस वर्ष कलकत्ता में तथा अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, हिन्दी परिषद ने अपने 22 वे अधिवेशन में गोष्ठी की। अप्रैल 1967 में 'साहित्यिकी' द्वारा रवीन्द्र भ्रमर व बालस्वरूप राही ने नवगीत पर आलेख प्रस्तुत किया।

विचार गोष्ठियों के अलावा बालस्वरूप राही के 'नया गीत' (धर्मयुग 20 मार्च 1966), गोपालदास नीरज का 'प्रश्नचिन्हों की भीड़ में घिरा गीत' (साप्ताहिक हिन्दुस्तान 1966), शचीन्द भटनागर का 'आधुनिक गीत छन्द विधान' (साप्ताहिक हिन्दुस्तान 27 नवम्बर 1966), प्रो. विष्णुकान्त शास्त्री का 'गीत और नवगीत' (धर्मयुग 25 फरवरी व 3 मार्च 1960) लेखों के जरिए नवगीत चर्चा का केन्द्र बिन्दु रहा। तो आठवें दशक में वीरेन्द्र मिश्र द्वारा संपादित 'सान्ध्यमित्रा' में नयी कविता के परिपेक्ष्य में नवगीत को आँकते हुए वीरेन्द्र मिश्र के विवेचनापूर्ण लेख सहित ओम प्रभाकर, उमाकान्त मालवीय, अनूप अशेष, माहेश्वर तिवारी, देवेन्द्र शर्मा आदि विशिष्ट 21 नवगीतकारों की रचनायें संकलित हैं।

4. चतुर्थ चरण : सन् 1981 से आज तक :

आठवे दशक तक नवगीत हिन्दी रचना संसार में भली-भाँति प्रतिष्ठित और व्यापक स्वीकृति पा चुका था। नौवां दशक नवगीत को प्राप्त प्रतिष्ठा और व्यापक स्वीकृति तथा यशोलब्धि आधार को संयोजित करने का रहा। यह दशक नवगीत रचना-विकास को तार्किक और व्यवस्थित तौर पर संग्रहीत कर जिज्ञासु पाठकों तक

पहुँचाने का भी मौन आग्रही रहा। इस महनीय और चुनौती भरे ऐतिहासिक दायित्व का बखूबी निर्वाह डॉ. शंभुनाथ सिंह ने किया। उन्होंने नवगीत वाङ्मय तथा उससे संबंधित आलोचना साहित्य को प्रकाश में लाने का नैष्ठिक प्रयास किया।

सन् 1982, 83, 84 व 86 ई. में क्रमशः नवगीत दशक 1, नवगीत दशक 2, नवगीत दशक 3 तथा नवगीत अर्धशती का प्रकाशन हिन्दी–काव्य–इतिहास की महत्वपूर्ण घटना रहीं। इनमें नवगीत को हिन्दी काव्य की स्वाभाविक धारा बताते हुए यह उल्लेख किया गया कि नवगीत नयी कवितावादियों से अवमानित और उपेक्षित होकर भी न तो कभी चुका है और न ही काव्य मूल्यों से च्युत है।

'नवगीत अर्द्धशती' प्रकाशन के साथ नवगीत केन्द्रित आयोजनों की श्रृंखला भी सामने आ गई। मार्च–86 में बम्बई में पं. नरेन्द्र शर्मा की अध्यक्षता में डॉ. धर्मवीर भारती ने इन आयोजन को समारोहपूर्वक लोकार्पित किया। इस पर 'आधुनिक भाषाओं में नवगीतः वर्तमान और भविष्य' तथा 'भारतीय काव्य–परंपरा और नवगीत' जैसे विषयों पर भागीरथ दीक्षित, डॉ. चन्द्रकान्त बाँदिबडेकर, डॉ. उमाशंकर तिवारी, डॉ. प्रभात तथा विभिन्न भाषा–भाषी विद्वानों ने विचार प्रकट किये। यह आयोजन बिहार, इलाहाबाद, वाराणसी, आदि स्थानों पर हुए। जिनमें डॉ. शंभुनाथ सिंह, श्रीकृष्ण तिवारी, उमाशंकर तिवारी, डॉ. जगदीश गुप्त, माहेश्वर तिवारी, डॉ. सुरेश, डॉ. श्री राम वर्मा आदि रचनाकर्मियों ने भाग लिया। इन आयोजनों का अंतिम क्रम 28 फरवरी व 1 मार्च 1987 ई. को गाजियाबाद व दिल्ली में दो दिवसीय कार्यक्रम के रूप में सम्पन्न हुआ। गाजियाबाद में अध्यक्षीय उद्‌बोधन करते हुए प्रभाकर माचवे ने नवगीत को भारतीय अस्मिता की मनोभूमि कहा।

''नौवे दशक में प्रतिष्ठित नवगीतकारों के अनेक स्वतंत्र संकलन भी प्रकाशित हुए। जिनमें 'जारी है लेकिन यात्राएँ' (विनोद निगम 1981), 'सन्नाटे की झील'

(श्रीकृष्ण तिवारी 1981), 'हर सिंगार कोई तो हो' (माहेश्वर तिवारी 1981) तो 1983 में प्रकाशित संकलनों में 'जाल फेंक रे मछेरे' (बुद्धिनाथ मिश्र), 'एक चावल नेह रींधा' (उमाकान्त मालवीय), 'गीत पर्व आया है।' (राजेन्द्र गौतम), 1984 में प्रकाशित संकलनों में 'होठ नीले धूप में' (हरिश निगम), 'आहत है वन' (कुमार रवीन्द्र), 'दरिया का पानी' (रमेश रंजक), 1986 में प्रकाशित 'वह मेरे गाँव की हँसी थी' (अनूप अशेष), 'वक्त की मीनार पर' (डॉ. शंभुनाथ सिंह) आदि, 'एक चेहरा आग का' (भगवान स्वरूप 1987), 'प्यास के हिरन' (राधेश्याम बंधु 1989) आदि नवगीत को आधुनिक कविता की सशक्त धारा प्रमाणित करता है।''[1]

तो यह भी स्पष्ट हैं कि प्रकाशन सम्बन्धी असुविधा के कारण समस्त रचित नवगीत साहित्य पुस्तकों का आकार नहीं ले पाया किन्तु उसका बहुत बड़ा अंश पिछले दो दशकों में पत्र-पत्रिकाओं में बिखरा पड़ा है। अनेक ऐसे कवि है जिनके नवगीत वर्षों पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहे हैं। ऐसे नवगीतकारों में सूर्य भानु गुप्त, सूर्य कुमार पाण्डेय, श्याम सुंदर दुबे, विनोद तिवारी, धनंजय सिंह, किशोर काबरा, गोपाल चतुर्वेदी, सावित्री परमार, विष्णु विराट, श्री कृष्ण शर्मा, सोम ठाकुर, पाल भसीन आदि है।

तो साथ ही नवगीत रचना साहित्य को पाठकों तक पहुँचाने का कार्य जिन पत्र-पत्रिकाओं ने किया, वे है – आजकल, आशीर्वाद, गिरिराज, हरियाणा संवाद, पंजाब-सौरभ, जागृति, मधुमती, पूर्वाग्रह, हिन्दी एक्स्प्रेस, अवकाश, रविवार, धर्मयुग, ज्ञानोदय, साप्ताहिक, भास्कर, वासन्ती आदि। इन पत्र-पत्रिकाओं ने नवगीत-रचना और आलोचना को पाठकों तक पहुँचाने का और उसे लोकप्रिय बनाने का दायित्वपूर्ण निर्वाह बखूबी किया।

---

1. हिन्दी नवगीत, परंपरा विविध आयाम, डॉ. सूर्यप्रकाश सिंह, पृ. 211

इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता के बहु आयामी विकास के समानान्तर ही नवगीत की धारा भी अविकल रूप से प्रवाहित होती रही है। ''यही नवगीत क्रमशः विकसित होकर नवम् दशक तक आते-आते हिन्दी कविता की प्रतिनिधि धारा बन चुका है।''[1]

अनावश्यक कला प्रदर्शन या बौद्धिक आरोपणों से मुक्त नवगीत आम आदमी की दैनन्दिनी से साक्षात्कार करता हुआ, उसके समग्र सामान्य परिवेश से जुड़ा होता है। इसमें संवेदनाएँ हैं, आत्मीयताएँ हैं, प्रेम और स्नेह की तरल धाराएँ हैं, औदार्यवादी संचेतना है और सब कुछ सहकर अदम्य जिजीविषा की शक्ति है।

वस्तुतः नवगीत वह है जो नवीन भावबोध से युक्त अपनी जमीन से जुड़ा हुआ है। जन-साधारण की संवेदनाओं का, उनके दर्द का, उनकी पीड़ा का, आशा-निराशा, इच्छा-अनिच्छा, कोमल-कठोर अनुभूतियों के चित्रण के साथ ही नवगीत में शहरी और ग्राम्य दोनों परिवेशों का चित्रण हैं। बिम्ब और प्रतीकों के नवीनीकरण के साथ नवगीत छन्द वैविध्य से युक्त है। नवीन सौन्दर्यबोध की पहचान के साथ संक्षिप्तता और त्वरा लिए हुए है। वह लय और तुकों की ताजगी लेकर प्रकृति की गोद में खेलता नजर आता है। समूह भावना का प्रेरक होते हुए वह पौराणिक और सांस्कृतिक सन्दर्भों को भी उजागर करता है।

नवगीत की व्याख्या देते हुए कवि विष्णु विराट कहते है – **''नवगीत गीत की नवता का द्योतक है, परिवर्तित मूल्यों एवं सोच के तहत नये आयामों और साज-सज्जा की अपनी निजी पहचान के साथ उभंरा यह गीत अपने सामयिक बोध से अवश्य जुड़ा है।'' 'नवगीत हमारे आस-पास, गली मुहल्ले में, पास-पड़ोस में, गाँव-देहात में सभी जगह हमारे हाथ में हाथ देकर चलता प्रतीत होता हैं। काका, दादा,**

1. भव्यभारती, अंक-17, पृ. 14

भैया, भौजाई, बहू, बेटी, किसान, मजदूर, गृहस्थ, व्यापारी सभी रिश्ते और सभी सम्बन्ध इन नवगीतों में मुखर हुए हैं।'[1]

नवगीत के बारे में अपना मंतव्य देते हुए डॉ. कमलाप्रसाद पाण्डेय लिखते हैं – **''आज के नवगीत में प्रमुख की विशेष शक्ति होती है, क्योंकि वह कवि मानस की ज्योति है। इस ज्योति में बुद्धिसम्मत त्याग या हार्दिकता होती है। 'नवगीतों' में स्वीकृत बुद्धि स्वयं दिशाबोध होता है। उसमें गेयत्व होता है, लेकिन उस गेयत्व का अर्थ गले की कला से नहीं रहता। वह आन्तरिक लय से आबद्ध होता है। इस प्रकार वह युह और युगेत्तर सम्भावनाओं का अवलम्ब होकर मानस संस्कार का एक सफल माध्यम है। 'नवगीत' यंत्र नहीं यांत्रिकता है, सैनिक नहीं सैनिकत्व है, मनुष्य नहीं मानवता है। वह सहज और गम्भीर दोनों है।''[2]**

नवगीत का कथ्य विस्तार आम आदमी की दैनंदिनी से जुड़ा है और संवेदना के धरातल पर वह साधारण व्यक्ति के सुख–दुःखों का प्रत्यक्ष गवाह बनकर भी उभरा है, लगता है जैसे यह नवगीत हमारे आस–पास ही घूमता फिरता हमारी रोजमर्रा की घटनाओं को देख परखकर हमीं से हमारी चर्चा करता है।

नवगीत की जमीन मूलरूप से मानवीय संवेदनाओं की औदार्यमयी बुनियाद पर टिकी हुई है, जहाँ व्यक्ति अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों को सामाजिक परिवेश से संयुक्त बनाकर व्यष्टि से समष्टि की यात्रा तय करता है। वैसे तो यह आधार छायावादी प्रकृति में भी विद्यमान है किन्तु छायावाद में संवेदनाओं का परिवेश केवल वैयक्तिक था। हिन्दी नवगीत की कड़ी जन–साधारण की सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना से जुड़ी हुई है अर्थात् ग्राम्यांचलिक परिवेश की समष्टिगत सांस्कृतिक निर्धारणों से संलग्न है, इस कारण यह छायावादी अवधारणाओं से भिन्न हो जाता है।

1. हाथ से छूटे कबूतर, भूमिका से

2. छायावादोत्तर हिन्दी काव्य की सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि–डॉ. कमला प्रसाद पाण्डेय, पृ. 382

मनुष्य की वैयक्तित के संवेदनाएँ नवगीत में सम्पूर्ण यथार्थता के साथ व्यक्त हुई हैं।

"फिर फूले कचनार
प्रिया, तुम बिन फूले कचनार।
द्वारे फूला है कदम्ब
पिछवारे फूला आम
आँगन फूला गुलाबाँस
अन्तर्मन तेरा नाम
डाल–डाल औ पात–पात
गिन–गिन फूले कचनार।"[1]

नवगीतकार कुमार शिव के एक नवगीत की निम्न पंक्तियाँ देखें जो उपर्युक्त कथ्यों से पुष्टि करती हैं –

"बहिना की शादी में
रेहन रख दिया था जो
कर्ज में डूबा आकण्ठ वह मकान
मांडने कढ़ा हुआ।
अम्मा के भजनों को
टेरता रहेगा अब
कमरा पूजा वाला।
और मकड़ियों के

1. ओम प्रभाकर, नवगीत दशक–2, पृ. 65

जालों से पुर जायेगा

ठाकुर जी का आला।

दुहरायेगा मेरा तुतलाया बचपन

तलसीवाला अंगना

माटी में जिसकी मैं

खेलकर बड़ा हुआ।''[1]

नवगीत में वैयक्ति पीड़ाओं को जहाँ संवेदना के स्तर पर व्यक्त किया गया है, वहाँ प्रतीकों का साहचर्य भी उसी स्तर पर एक निश्चित वातावरण की सृष्टि करता है। यथा –

''थर थराते हैं नदी के पाँव

पर्वत काँपते हैं

पीठ पर कोड़े उगाये

डाकिये खत बाँटते हैं।

एक जहरीली हवा की साँस ने

जब से छुआ है

हो गई धरती धुँआ घर

हर शहर जंगल हुआ है

आदतन बौने सिपाही

हर सुबह को डाँटते हैं।''[2]

1. कुमार शिव, नवगीत दशक–2, पृ. 25

2. उमाशंकर तिवारी, वही, पृ. 7

या फिर –

"क्या हमें जो दर्द हरकारा बने,

चिलचिलाती धूप में पारा बने।

हम पिघलने के सिवा क्या जानते?

झील चाँदी की बने, धारा बने।

भिश्तियों की पीठ से

बँटते रहे।"[1]

कुमार रवीन्द्र ने इस व्यथा कथा को एक अलग अंदाज में ही प्रस्तुत किया है

"दिनभर की गाथायें

सुनकर

हम दुख की झील हो गये।

दृष्टि–दृष्टि पथरायी

सन्नाटे –

माथे पर गड़ी हुई कील हो गये,

उम्र की कथाओं में

कितने अध्याय हैं

व्यथाओं के।

यादों में है कई–कई सलीब

मूर्च्छित संध्याओं के।

---

1. उमाशंकर तिवारी, नवगीत दशक–2, पृ. 72

अर्थहीन सुख के

समझौते से

सपने अश्लील हो गये।''[1]

नवगीत का चरित्रनायक एक आदमी है, जो थका, हारा, टूटा हुआ, रोजी–रोटी के लिए संघर्ष करता हुआ, राजनीति से टक्कर लेता हुआ, समाज के ठेकेदारों से जूझता हुआ, गाँव के ठेकेदारों चौधरियों तथा जमीदारों से मोर्चा लेता हुआ और जगह–जगह अपनी बाध्यताओं से पराभूत हो जाता है –

''हाथों में लेकर

बैठा हूँ

कागज के टुकड़े

टुकड़े जिनके

नाम लिखे हैं

खेत और खलिहान

टुकड़े जिनके

नाम लिखे हैं

टूटे हुए मकान

करते रहे

चोट हम लेकिन

पाँव नहीं उखड़े।''[2]

---

1. कुमार रवीन्द्र, नवगीत दशक–2, पृ. 86
2. वही, पृ. 88

इसी प्रकार से –

''नीम तरु से फूल झरते हैं,
तुम्हारा मन नहीं छूते,
बड़ा आश्चर्य है।
रीझ सुरभित
हरित वसना घाटियों पर
व्यंग्य से हंसते हुए
परिपाटियों पर
इन्द्रधनु सजते–सँवरते हैं
तुम्हारा मन नहीं छूते,
बड़ा आश्चर्य है।''[1]

संवेदनाएँ सुखद भी हो सकती हैं, दुखद भी और तटस्थ भी। किन्तु इन तमाम स्तर पर गीतकार स्वयं कहीं तटस्थ नहीं रहता। प्रसंग चाहे श्रृंगार का हो, प्रकृति का हो या नारी का अथवा प्रेम का, वैयक्तिक अनुभूतियों के आधार पर वह अपनी उदात्त परिकल्पनाओं से जो बिम्ब स्थापित करता है, उसमें कहीं न कहीं संवेदनशील आत्मकथ्य अवश्य होता है –

''कर दिए लो आज गंगा में प्रवाहित
सब तुम्हारे पत्र, सारे चित्र
तुम निश्चिंत रहना।
धुंध डूबी घाटियों के इन्द्रधनु तुम

1. किशन सरोज, नवगीत शिखर, संपा. देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र', पृ. 41

छू गया नभताल, पर्वत हो गया मन
बूंद भर जल बन गया पूरा समन्दर
पा तुम्हारा दुख, तथागत हो गया मन।

अश्रुजन्मा गीत कमलों से सुवासित
यह नदी होगी नहीं अपवित्र
तुम निश्चिंत रहना।

दूर हूँ तुमसे न अब बातें उठेंगी
मैं स्वयं रंगीन दर्पण तोड़ आया,
वह नगर वह राजपथ, वे चौक गलियाँ
हाथ अन्तिम बार सबको जोड़ आया।

थे हमारे प्यार से जो-जो सुपरिचित
छोड़ आया वे पुराने मित्र,
तुम निश्चिंत रहना।''[1]

नवगीत के अधिकांश कवियों ने प्रकृति को माध्यम बनाकर मानवीय संवेदना को अत्यन्त सजीव एवं सार्थक अभिव्यक्ति प्रदान की है। इस संदर्भ में नवगीतकार डॉ. जगदीश 'अतृप्त' की कुछ नवगीत पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं –

''एक फागुन और
तुमको दे रहा हूँ मैं।
हैं वही झरते-बिखरते पात,
उड़ती धूल,

1. किशन सरोज, मध्य भारती, अंक-9, पृ. 12

वही सूनी हवा

वे ही पत्रहीन बबूल

तुम्हें जैसा भी लगे पर

एक फागुन और तुमको

दे रहा हूँ मैं।

बीत जाये यों न

कितनी बार यह मौसम

जी उठेंगे हर नये

ऋतुचक्र में तुम–हम

एक स्मृति का दंश तीखा

एक जीवन और तुमको

दे रहा हूँ मैं।''[1]

उपर्युक्त गीत खण्ड में कवि प्रकृति को माध्यम बनाकर हमें जीवन में आशान्वित होने की प्रेरणा देता हैं तथा इसके लिए सम्पूर्ण ऋतुचक्र को निछावर कर देना चाहता है। किन्तु दूसरी तरफ कवि मन प्रकृति के प्रति उदासीन है, उसे पतझर नें झकझोर कर रख दिया है। वह उदास और व्यथित है –

''पियराये पात झर गये,

और मन उदास कर गये

कब का मधुमास ढल गया

कहने को पर पतझर था,

1. डॉ. जगदीश 'अतृप्त'–नवगीत अर्धशती, पृ. 102

मेरे दुख के दिन भी
आँख चुराकर गुजर गये।
शेष रही सूनी दुपहर
गर्म हवा, ऊबती उमर,
धूल जमी पर्त–पर्त
तिनके–तिनके बिखर गये।''[1]

इसी प्रकार से –

''आग के समुन्दर में
कागज की नाँव
अपना यह गाँव।
दीवारें ढोती हैं
धुँए की कथा
चेहरों पर पुती हुई
जलन की व्यथा,
बस्ती भर नांच रहा
नंगा आतंक
यहाँ जिन्दगी जैसे, बिच्छू का डंक
सुलगी दोपहरी में, कोढ़ी के पाँव
अपना यह गाँव।''[2]

1. रामेश्वर दास, नवगीत अर्धशती, पृ. 221
2. वही, पृ. 104

नवगीतकार विद्यानन्दन राजीव कहते हैं –

''कब क्या लिखे कलम

कल ही तो

उछला एक सवाल।

रंगमंच पर

चीत्कार है

शब्द रसाल नहीं

अचरज क्या

यदि नये गीत में

स्वर–तुक–ताल नहीं

उसमें स्पन्दित है

इस युग का

उठता हर भूचाल।''[1]

मानवीय अभावग्रस्त जिन्दगी का हूबहू चित्र सुधांशु उपाध्याय के नवगीत की पंक्तियों में व्यक्त हुआ है –

''चारों तरफ धुँआ है,

पूरी चमरौटी में केवल

एक कुँआ है।
राजा राजा है, प्रजा प्रजा है
तीन पीढ़ियों का कर्जा है

---

1. विद्यानंदन राजीव, नवगीत अर्धशती, पृ. 227

SMT. HANSA MEHTA LIBRARY • The M. S. University of Baroda

कन्धे बदले

वही जुआ है।

जेल में लाठी चली है

बर्फ अब जाकर गली है

खेत पर

दंगा हुआ है।''[1]

नवगीतकार को यह बदलहाली की स्थिति समग्र राष्ट्र के जनसाधारण के जीवन में दिखाई देती है। यह सब देख कर कवि का मन व्यथित हो जाता है और वह कहने के लिए बाध्य हो जाता है –

''ठंडा खून

गरम है नारे

बेच रहे ईमान।

लिये कटोरा

घूम रहा है

सारा हिन्दुस्तान।

फुटपाथों पर

पत्थर रखकर

सिरहाने सोये

कातिल, कातिल

से कहता है

1. सुधांशु उपाध्याय, नवगीत अर्धशती, पृ. 273

दाग नहीं धोये?

अपने ही घर में

खोयी है

चेहरों की पहचान।''[1]

नवगीतकार बड़े ही सहज ढंग से मानवीय संवेदना को व्यक्त करते हुए कहता है कि आज की परिस्थितियाँ कितनी बदल गयी हैं, मनुष्य के ह्रदय में जो उफान आना चाहिए था वह नहीं है। आज का मनुष्य अपने ईमान को बेच रहा है। चारों तरफ बेईमानी, भ्रष्टाचार व्याप्त है। समग्र हिन्दुस्तान में यह संचेतना फैल गयी है जहाँ एक कातिल दूसरे कातिल से पूछता है कि – क्या अभी तक अपने दाग नहीं धोए। परिणाम यह हुआ कि मनुष्य के ऐसे व्यभिचार, दुमुंहइया व्यवहार से उसकी पहचान खतम हो गयी है और आज वह अपने ही घर में देश में एक अन्जान बनकर रह रहा है। अर्थात धीरे–धीरे मनुष्य की अपने ही घर में उसकी अस्मिता समाप्त हो गयी और नकाबपोशी के चक्कर में उसकी पहचान भी खतम हो गयी, इसी क्रम में कवि आगे कहता है –

''लौटेंगे जल्दी ही घर को

करके वादे दिन

कहाँ खो गये देहाती से

सीधे–सादे दिन?

मेलों जैसे कुर्ते उनके

खुली हवा सी धोती, गमछों बंधे लोकगीतों के

1. जगदीश श्रीवास्तव, नवगीत अर्धशती, पृ. 109

गुड़, सत्तू औ, रोटी

मिले जिसे

वह दया करे

मुझ तक पहुँचा दे दिन।''[1]

सुरेन्द्र पाठक के शब्दों में –

''भूखे पेट न जिसको

सोने देती थी दादी

उपवासों का वही हो गया

नाती अब आदी

रहने लगे महल में

आंगन गन्ध विराजी है,

खत्म हो गये लेकिन सब संबंध अंतड़ियों के

हींग पीसकर वैसा

दुखते माथे पर रखना

सिर की गोली से होने दे

मन कैसा चिकना

बिजली वाले चूल्हे के ये

दिन ठंडे–ठंडे, याद दिलाते हैं भाभी के दिवस लकड़ियों के।''[2]

---

1. जगदीश श्रीवास्तव, नवगीत अर्धशती, पृ. 278

2. सुरेन्द्र पाठक, वही, पृ. 277

शहर की जिन्दगी से घबराया कवि अपनी अन्तर्व्यथाओं को जब संवेदना के स्तर पर जीता है तो उसके मन की व्यथा तथा पीड़ा इस प्रकार व्यक्त होती है –

''बुझ गये घर, छत, मुंडेरे

हुआ सूरज अस्त

अब हम कहाँ जाएँ, किसे टेरे?

अब नहीं छूती

हवा की उंगलियाँ लहरें

दृश्य प्यासी दृष्टियाँ

किस ठौर जा ठहरें।

जड़े पानी, घाट ताके

हुआ सब कुछ स्याह

अब हम नाव अपनी किधर फेरे?''[1]

शहर के कोलाहल में व्यक्ति मशीन मात्र बनकर अपनी दैनिक दिनचर्या में जुट पाता है। गुमनाम ज़िन्दगी जीता हुआ कवि जब अत्यन्त संवेदनाशील और भावुक हो जाता है, तब वह यही कहता है –

''वर्तमान ने मुझे दिया है / यह सूखा मंजर / वे सब आये हैं / भविष्य से आतंकित होकर / सूखे होंठ / झूलते कन्धे / बोझ किताबों के / एक सदी जकड़े पावों को / एक सदी सर पर / साथी हम चौराहे तक / फिर सफर अकेला है / शहरों के हिंसक जंगल में / सूखेसागर में / रोटी मुझे खींच लाई है / इस जलते घर में।''[2]

1. ओम प्रभाकर–नवगीत दशक–2, पृ. 67

2. डॉ. विनोद निगम, भव्य भारती, नवगीत शिखर अंक, पृ. 32

शहर में रहते मनुष्य आत्म केन्द्रित हो जाता है, दिन-रात वह अपनी आत्मश्रद्धा को तृप्त करने के लिए भटकता रहता है। सुखद सपनों की बातों के लिए उसके जीवन में कोई स्थान नहीं है –

''नागफनी से घिरे
गुलाबों का क्या करें।
सार छज्जे, छत
पथराव में
जीते हैं घृणा के अलावा में
हम घर की जलती
मेहराबों का क्या करें।
चीलों ने डैनों ने
आसमान घेरा
दुबका है गौरैया-सा
नया सवेरा
गोली की हद में
सुर्खाबों का क्या करें।''[1]

इसी प्रकार शहर में मनुष्य सिर्फ गुमनामी की जिन्दगी को जी रहा है। वह चारों तरफ से दर्द झेल रहा है और प्रतिदिन एक नये सबेरे का इंतजार करता है, किन्तु शहर की वही रोजमर्रा की जिन्दगी, जिसके दाएँ-बाएँ नई घटनाएँ घटित होती रहती हैं। वह हमेशा उसी दुख-दर्द से लिप्त रहता है। उसे कहीं भी मानसिक शान्ति नहीं

1. माहेश्वर तिवारी, नवगीत दशक-2, पृ. 122

मिल पाती, कवि कहता है –

"ऊपर नीचे सिर्फ गुम्बदी धुँआ
अंधेरे का।
झेल रहा हूँ दर्द शहर के
नये सवेरे का।
बिस्तर छूटा दुर्घटनाएँ
दाएँ–बाएँ हैं।
शोर–शराबे चायघरों के
मुँह लटकाये हैं।
आँखों में है सर्द पठारों जैसी खामोशी
फैल रहा दायरा फास्फोरस के घेरे का।"[1]

बदलते हुए ग्रामीण परिवेश को देखकर नवगीत कवि अपने आपको यह कहने से रोक नहीं पाता है –

"नगर की बेहद नशीली
नित्य आयातित हवाएँ
गाँव को भस्मा रही हैं,
पीढ़ियों की
पूर्व अर्जित सम्पदाएँ
गिद्ध–दृष्टि जमा रही हैं

---

1. माहेश्वर तिवारी, नवगीत दशक–2, पृ. 127

लोग मिट्टी की महक को

आज देने जा रहे

वनवास

चुप कैसे रहूँगा?''[1]

राजेन्द्र गौतम इस व्यथा को व्यंग्य की भाषा में प्रस्तुत करते हैं –

''आओ मिलकर

आज करें हम

गिद्धों का आयात।

सिद्धान्तों की

लाशों का भी

कुछ तो हो उपयोग,

मुश्किल से मिलते हैं

ऐसे महाभोज–संयोग

बचे भेड़ियों की

बस्ती में

क्यों ये आदम जात?

छोटी–सी

डाली पर भी क्यों

शेष रहे हरियाली

1. विद्यानंदन राजीव, नवगीत दशक–2, पृ. 228

सभी दिशाओं को

डंस ले यह

दावानल की व्यली

संध्या –

आंतों की सौदागर

रक्त सनी है प्रात।''[1]

नवगीत कवि रमेश गौतम लिखते हैं –

''एक कोना ढूँढ़ती फिरती

अभागी

आँगनों के बीच

माँ तुलसी हमारी

छीन ली आकाश चुम्बी

होटलों ने

द्वार से पीपल पिता की

भूमि सारी

जो बना आदर्शवादी

बस्तियों में, फिर उसे बनवास

वर्षों का मिला, नयन में नीली प्रीतक्षा बाँधकर

अयोध्याएँ हो गई हैं अब शिला।''[2]

---

1. राजेन्द्र गौतम, नवगीत दशक–2, पृ. 202

2. रमेश गौतम, भव्य भारती, नवगीत शिखर अंक, पृ. 30

व्यक्ति जब अपने वजूद से अलग–थलग पड़कर अपनी पहचान ही खो देता है तब अपने इर्द–गिर्द उसके आत्मीय सम्बोधन भी जैसे आडम्बर युक्त होकर पहचान की सीमा से दूर हो जाते हैं। उमाशंकर तिवारी के नवगीत की प्रस्तुत पंक्तियाँ इस बात की पुष्टि करती हैं –

''सफर के वक्त मेरे साथ मेरा घर नहीं होता
कभी शीशा चिटकने का भी मुझको डर नहीं होता
सफर में सिर्फ चलती साँस, जिन्दा पाँव ही होते
कोई मंजिल, कोई भी मील का पत्थर नहीं होता।
यही पैगाम लेकर मैं कभी,
घर से निकल जाता
तो हमारे सामने होते हजारों आइना चेहरे
शिखर को चूमते चेहरे,
खुशी से झूमते चेरहे।''[1]

अनूप अशेष की निम्न पंक्तियों में आत्मीय संस्पर्श की अत्यन्त ही अनोखा दृश्य दिखाई पड़ता है –

''कितनी बार अंधेरा जागा
कोहरा कितनी बार
खीली धुआँ मुंडेरी पकड़े
रोया कितनी बार।
अक्सर घर में रही रसोई

1. उमाशंकर तिवारी, नवगीत शिखर अंक, पृ. 17

बिना गन्ध के सोयी

बच्चों की आँखों में

अम्मा के आँचर में रोयी।

कितनी बार भोर की किरनें

आयीं भूख पखार।

अपने दरवाजे देहरी पर

दिन की दीठ उतार।''[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में गीतकार ने विपन्नता की उस संवेदना को व्यक्त किया है जो आम आदमी के अन्तर्मन को झकझोर कर रख देती है। इसी अन्तर्मन के संस्पर्श में यश मालवीय जी कहते हैं –

''पिता बूढ़ा है कि

कुछ दिन का कहो मेहमान सा है

रात के काले पंहर में

एक आतिशदान–सा है

यह अँधेरा और गहरा

और भी गहरा

बहुत मुश्किल से

उजाला एक भी आखर लिखेगा

मौन दरवाजा भले जर्जर

कि घर की शान–सा है।''[1]

1. अनूप अशेष – नये पुराने, गीत अंक–4, पृ. 108

अशोक 'अंजुम' की निम्न नवगीत पंक्तियों में आत्मीयता की झलक देखने को मिलती है –

''हमीं जब संभले नहीं तो
आँधियों से क्या गिला।
टूटना ही था किला।
काम अपने नाम के थे
रास्ते भी वे गलत
और सोचों पर जमीं थी
धूल की मोटी परत,
और उस पर साथ अपने
रहजनों का काफिला।
टूटना ही था किला।''[2]

या फिर –

''एक–एक कर पीछे
छूट गये सारे
वे दुआ सलामों के
बोझिल सम्मोहन
बर्फीली खूहों में

1. यश मालवीय, भव्य भारती, नवगीत शिखर अंक, पृ. 37
2. अशोक अंजुम, नये पुराने गीत अंक–4, पृ. 113

तोड़ चुके दम हैं

रोमिल खरगोशों से

परिचित सम्बोधन

एक अजनबीपन ही भरा

हर नजर में।''[1]

आत्मीय संवेदना को झंकृत कर देने वाली परिस्थितियों का निर्माण आज के वर्तमान समय में हो गया है। हर व्यक्ति सशंकित हैं, आपसी प्रेम–भाव तक लिप्त हो गए और दुवा–सलामों की भी एक जो औपचारिक बन्धन था वह भी समाप्त हो गया। आज परिचित सम्बोधनों में भी एक अजनबीपन दिखाई पड़ता है। उसकी झलक ऐसे परिचित लोगों की नजरों में स्पष्ट रूप से उभर आता है, कुछ यही भाव निम्न पंक्तियों के गीतों में व्यक्त हुआ है –

''घर के हैं हालात बुरे कैसे घर जाऊँ

उलझे हैं अरमान अरे कैसे सुलझाऊँ?

दादा–दादी पके पान से

जीर्ण–शीर्ण जर्जर मकान से

अम्मा–बाबू उम्र ढले हैं

भाग–दौड़ के इम्तहान से

'अपना' कहते जिन्हें शान से

बैर किये हैं वही जान से

अपने–अपने स्वार्थ भले हैं

1. राजेन्द्र गौतम, नवगीत दशक–3, पृ. 31

बन बैठे हैं सब महान से।

सबके हैं अन्दाज खरे कैसे समझाऊँ?

घर के हैं हालात बुरे कैसे घर जाऊँ?''[1]

नवगीत में केवल पीड़ा को ही अभिव्यक्ति नहीं मिली अपितु मानवीय जीवन की समग्र उथल–पुथल इसमें व्यक्त हुई है। आज मनुष्य यंत्र की तरह अपना जीवन जी रहा है, भीड़ के इस शोर में आदमी बिलकुल अकेला हो गया है –

''धूप के हुए

न कभी छाँव के हुए

हम जब भी हुए

शकुनि–दाँव के हुए।

लाक्षागृह

षडयन्त्रों के सुघड़ बनाये

अपने ही

स्वजन हमें शत्रु नजर आये

शहर के हुए

न कभी गाँव के हुए

धूप के हुए, न कभी छाँव के हुए।''[2]

सामाजिक परिवेश में दृष्टपात किया जाय तो हमें अक्सर यह दिखाई पड़ता है कि गैरों से उतनी परेशानी नहीं है जितनी अपनों से है। समाज में आज अपने ही

---

1. मधुमती, मई 1999, पृ. 52
2. ओम निश्चल, नवगीत अर्धशती, पृ. 56

अपनों का गला घोंट रहे हैं, नित्य प्रतिदिन एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिए षडयन्त्रों के जाल बुन रहे हैं और अपने ही शत्रु बनकर सामने आ रहे हैं। ऐसे में गीतकार वैयक्तिक संवेदना जागृत हो उठती है और यह सोचने के लिए विवश हो उठती है कि आज हमारी परिस्थिति क्या है? हम कहीं के नहीं हैं? हमारे संबंधों में इतनी दरार आ गई है, हम अपने आपको न शहर का पाते हैं और न ही गाँव का पाते हैं। अर्थात चारों तरफ मानवीय संवेदना शून्य सी हो गयी है। यदि कुछ बचा है तो वह दूसरों को दबाकर आगे बढ़ने की प्रवृत्ति। इसी संदर्भ में एक गीत ध्यातव्य है –

''घरों से
उठती भभक–सी
छतों से उठता धुआं है?
पत्तियाँ गुमसुम
शहर में आँधियों के सिलसिले हैं
देशद्रोही हो गये मन्दिर
बने घर घर किले हैं,
हर किसी की आँख में
अवसाद का दिखता धुआँ है।
इस समय को क्या हुआ है?''[1]

इसी प्रकार से –

''मन है एक दर्द है अनगिन
किससे कहें व्यथा

1. ओम निश्चल, नवगीत अर्धशती, पृ. 55

भीतर सब कुछ टूटा–टूटा

बाहर जुड़ा–जुड़ा।

भूखा पेट रहा दौड़ता

मारे–मारे फिरे

शहर तक पाँव भगा लाये

बहराये सब रिश्ते नाते

दस्तक थकी–थकी

भाल पर चोट लाये,

विज्ञापन सी हुई जिन्दगी

खोया अपनापन

फटी जेब में जैसे कोई

कागज मुड़ा–मुड़ा।''[1]

आन्तरिक दबाव और मुश्किलों के बीच टूटना–पिसना भर व्यक्ति की नियति रह गई है –

"लगी हुई राशन में

भूख की कतारें

कर्जे की सुरसा को

किस तरह उतारें

कितने दुख दर्दों की गीता है आदमी,

---

1. श्याम निर्मम, नवगीत अर्धशती, पृ. 250

रेप लिए जीवन में इतने अंधियारे

बढ़ते कोलाहल में

अब किसे पुकारें?

अपना ही खून आज पीता है आदमी।''[1]

या फिर –

" यह शहर जिसको

ह्रदय में प्यार से मैंने बसाया

घुटन बनकर रह गया है

जिन्दगी के वास्ते

चलूँ इसको छोड़ अपना गाँव ले लूँ।

छोड़ता हूँ साँस

तो लगता है कि जैसे

धुआं प्राणों से निकलता है,

बात करता हूँ जब किसी से

कण्ठ में तब दर्द का, पत्थर फिसलता है

आधुनिकता की सभी वेसाखियाँ

जो मिली मुझको, ग्रहण अब वे बन गई हैं

जिन्दगी के वास्ते

चलूँ इनको छोड़, अपने पाँव ले लूँ।''[2]

1. राजकुमारी रश्मि, नवगीत अर्धशती, पृ. 200

2. उद्भ्रांत, वही, पृ. 57

ग्रामीण परिवेश में नवगीतकार अधिक ही संलग्न हुआ जान पड़ता है। शहरी कृत्रिमता, बनावटीपन से वह बार–बार ऊब जाता है और प्रायः अपने गाँव की बातें करने लगता है –

"आँधियों में उड़ गया परचा
इस शहर में
गाँव की चरचा।
क्यों न चिट्ठी
घर तलक पहुँची
क्यों न पहुँचा डाकिया द्वारे?
हाथ से छूटे अचानक ही
गैस के रंगीन गुब्बारे !
प्यार में अन्धी प्रतीक्षाएँ
कब कहाँ पर
हाथ मलती
बाँध हैं आँचल में चबैना कुछ
दो मशालें रात भर जलती !
ये दधीचि हड्डियाँ कहतीं
क्या नहीं, इसने यहाँ खरचा।"[1]

या फिर –

1. विष्णु विराट, सार्थक, संपा. मधुकर गौड़, अक्टूबर–1998, पृ. 21

''ये शहर होते हुए से गाँव
पहचाने नहीं जाते।
लोग जो फौलाद के मानिन्द थे,
अब रह गये आधे
दौड़ते–फिरते विदूषक से
मुरेठा पाँव में बाँधे,
नाम से जुड़ते हुए कुहराम
पहचाने नहीं जाते।
अब न वे नदियाँ, न वे नावें,
हवाएँ भी नहीं अनुकूल
हर सुबह होती किनारे लाश,
पानी पर उगे मस्तूल
आँधियों के ये समर्पित भाव
पहचाने नहीं जाते।''[1]

आधुनिकता के इस दौर में सब कुछ बनावटी लगता है। यहाँ तक कि रिश्ते–नाते, घर–परिवार, कुटुम्ब–समाज आदि सभी में वह भावनाएँ दिखाई पड़ती हैं। यथा–

''हम ठहरे गाँव के
बोझ हुए रिश्ते सब

1. उमाशंकर तिवारी, भव्यभारती, गीत अंक, पृ. 50

कन्धों के, पाँव के

भेद-भाव, सन्नाटा

ये साही का काँटा

सीने के घाव हुए

सिलसिले अभाव के।''[1]

इसी क्रम में यह नवगीत देखिये –

''सौंधी गंध उठी माटी से

बूंदे बरस गईं

पत्तों पर ठहरी शबनम ने

जितने गीत लिखे

बूँदों के दर्पण में देखा

अनगिन चित्र दिखे

खुद से ही मिलने अनजाने

बूँदे तरस गई

जलतरंग सी बजी हवा में

गमक उठी माटी

पंछी की स्वर लहरी से फिर

गूँज गई घाटी, सिहर-सिहर जाता है मन ये

बूँदें बरस गईं।''[2]

---

1. नवगीत अर्धशती, पृ. 127

2. नये पुराने, संपा. दिनेश सिंह, सितम्बर 99, पृ. 82

डॉ. शंभुनाथ सिंह ने अपने गीतों में ग्रामीण परिवेश की सुन्दर परिकल्पना की है। ग्रामीण जीवन में हवाओं का रुख, पारिवारिक वातावरण, सूनापन लिए जीवन की अंतरिम संवेदना, गाँव की पगदण्डी वाले रास्ते मानवीय संदर्भों को छू लेते हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो वह सब आत्मीय संबंध की आड़ लिए एक कृत्रिमता का बोध कराती हो। यथा –

''छिप छिपकर चलती पगदण्डी वन खेतों की छाँव में,
अनगाये कुछ गीत गूँजते
हैं किरनों की हास में,
अकुलायी सी एक बुलाहट
पुरवा की हर सांस में।
सूनापन है उसे छेड़ता, छू आँचल के छोर को
जलखाते भी बुला रहे हैं बादल वाली नाव में।
रुनझुन बिछिया झींगुरवाली
किंकिनि ज्यों बक–पांत है,
स्वयंवरा बन चली बावरी
क्या दिन है, क्या रात है।
पहरू से कुछ पीली कलगी वाले पेड़ बबूल के
बरज रहे हैं, पाँव न धरना भोरी कहीं कुठाय में,
अपना ही आँगन क्या कम जो चली पराये गाँव में।''[1]

---

1. शम्भूनाथ सिंह, नवगीत अर्धशती, पृ. 235

पारिवारिक संदर्भ :

भारतीय संस्कृति में 'परिवार' की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण रही है। प्रायः सभी नवगीतकारों ने अपने गीतों में पारिवारिक सन्दर्भ का बखूबी वर्णन किया है। नवगीत का एक बहुत बड़ा हिस्सा उस गमगीन और त्रासद भरी संत्रस्त पारिवारिक जिन्दगी का है जो समाज के द्वारा सदा उपेक्षित और ग्लानि का शिकार होती रही है। इसमें नौकरी की तलाश में दर बदर दौड़ता, ठोकर खाता हुआ पढ़ा–लिखा नौजवान है, व्यवस्था का कहर है, काम के लिए भटकता हुआ श्रमजीवी है, विधवा पत्नी, बूढ़ी माँ की अभावग्रस्त जिन्दगी है, दम घोंटने वाली हवा में साँस लेता हुआ आम आदमी है। आधुनिक पीढ़ी है जो बार–बार क्रान्ति या आन्दोलन के लिए उकेरी जाती है और हर बार आम चौराहे पर जिसका कत्ल हो जाता है। अधिकतर नवगीतकार कवियों ने ऐसे परिदृश्यों को अपनी रचनाओं में समेटा हैं।

यश मालवीय पिता की अहमियत को गीतांकित करते हुए कहते हैं –

''आज भी सौ जख्म जिन्दा
अधमरे – से हैं जेहन में
पर सवेरा गूँथता है
हर कली में, हर किरन में
सुन रहा ऊँचा कि फिर भी
आहटों पर कान–सा है।
पिता बूढ़ा है कि, कुछ दिन का कहो मेहमान सा है
रात के काले पहर में, एक आतिशदान–सा है।''[1]

1. यश मालवीय, भव्यभारती, नवगीत शिखर अंक, पृ. 27

माँ के सन्दर्भ में सुधांशु उपाध्याय कहते हैं –

''सुबह शाम खटती है

बेचन की माँ

इंच–इंच घटती है

बेचन की माँ।

नागिन सी उठती है

पेट में लहर

आँतों में पलता है

भूख का जहर,

आगे से हटती है

बेचन की माँ।

रेलों से कटती है / बेचन की माँ।''[1]

परिवार की व्यथा का परवान करते हुए श्याम सुन्दर दुबे कहते हैं –

''छज्जों चढ़कर

अड़–बड़ बोले

तपे दुपहरी जेठ की।

बजरी पीटे

गिट्टी फोड़े

गाँव गिरानी

1. सुधांशु उपाध्याय, नवगीत दशक–3, पृ. 57

सड़क को जोड़े।
शीतल पाटी
मालिक बैठे
रैयत गोट चपेट की।
फूटी बटुली
टूटा चूल्हा
ऋण की पाग
लपेटे दुल्हा।
सूखा बाढ़
अषाढ़ों चढ़ गये
घर गिरथी अलसेट की।''[1]

हृदय चौरसिया एक संघर्षरत परिवार के थके हारे और टूटे हुए नौजवान बेटे की खीझ को जज़बाती अन्दाज में अभिव्यक्ति देते हुए कहते हैं –

''ओ पिता
जनमा कर तुमने
की क्यों
ऐसी भूल
दी सरिता ऐसी
जिसमें

1. श्यामसुंदर दुबे, नवगीत दशक–3, पृ. 256

न जल

न कूल

पल–पल बीता

जैसी दहकती चिता।

गिरवी है घर–आँगन

बिका आसमान

जाने कब साँझ हुई

और कब विहान

ठाँव–ठाँव

बिखरी है

टूटी अस्मिता।

ओ पिता !''[1]

टूटते हुए पारिवारिक अस्तित्व और उसकी त्रासदी को व्यक्त करते हुए गुलाब सिंह लिखते हैं –

''बप्पा सिर पर हाथ धरे हैं

माँ बैठी मन मारे।

टूटी छत के तले

भाइयों के –

अन्तिम बँटवारे।

---

1. हृदय चौरसिया, नवगीत अर्धशती, पृ. 302

घर के दिन सो गये

शाम की

सिली पिछौरी साटकर

बच्चे,

जैसे

खुले महाजन के खातों के पन्ने

बूढ़े लगते हैं

मुनीम के अद्धे और पवन्ने।

बहन, चौधरी की मर्जी से

बिरादरी की टाट पर।''[1]

अखिलेश कुमार सिंह की इन नवगीत पंक्तियों में एक अबला नारी की दैनन्दिनी से जुड़ी उसकी मनोव्यथा की प्रतिध्वनि सुनायी पड़ती है –

''उपले पाथेगी,

बासन मांज़गी,

पारबती अपने दिन

यों ही काटेगी।

आँखों में

जंगल या

पांतर होगा

1. गुलाब सिंह, नवगीत दशक–2, पृ. 302

माथे पर

लकड़ी का

गट्ठर होगा,

गुमसुम आयेगी

गुमसुम जायेगी

सूरज या बादल की

और न ताकेगी।''[1]

कुमार शिव ने जीवन की जटिलताओं, गरीबी, विवशता और इन सब से उत्पन्न दयनीय दशा को अत्यन्त ही सजीवता से संवेदना के स्तर पर अभिव्यक्ति प्रदान की है, जिन्हें पढ़कर या सुनकर अनायास ही दृष्टिपटल पर एक दृश्य घूम जाता है –

''बहिना की शादी में

रेहन रख दिया था जो

कर्जे में डूबा आकण्ठ वह मकान

माँडने कढ़ा हुआ।

लालटेन का प्रकाश

रात–रात भर जगना

पर्चों की तैयारी।

बाबू जी की मिर्गी

अम्मा का गठिया

1. अखिलेश कुमार सिंह, नवगीत दशक–2, पृ. 25

लम्बी असाध्य बीमारी।

कितने संघर्ष-भरे दिन इसमें बीते हैं।

बावजूद आँधी तूफानों के

यह मकान

गाँव में खड़ा हुआ।''[1]

नवगीतकार प्रेम तिवारी ने अपने नवगीत में एक परिवार की बदहाली और उसके घर की जर्जर हालत का बयान किया है –

''नीम-हकीम

मर गया कब का

घर-आँगन बीमार

बाबूजी तो

दस पैसा भी

समझे हैं दीनार, ऊब गई हूँ

कह दूँगी मैं ऐसी वैसी बात।

दादी ठहरी भीत पुरानी

दिन-दो दिन मेहमान

गुल्ली-डण्डा, खेल रहे हैं

बच्चे हैं नादान, टूटी छाजन

झेल न पायेगी अगली बरसात।''[2]

1. कुमार शिव, नवगीत दशक-2, पृ. 26

2. प्रेम तिवारी, नवगीत अर्धशती, पृ. 154

नवगीत में बदलते हुए मानवीय संबंधों को बखूबी चित्रांकित किया गया है। देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' को हर रिश्ते का रक्त जमा–जमा दिखाई देता है। उनका मन बहुत बेचैन और उलझनों में घिरा हुआ है –

''आज के सवालों को
अनजाने कल पर हम
यों कब तक टालते रहें?
गुजरी तारीखों के पन्नों से
सारे सपने फटे
जीते हैं अनचाहे क्षण को हम
पिछले सन्दर्भों की
राह से बिना हटे
अभिनय के साँचों में
भीतर की ऋजुता को
यों कब तक ढालते रहें?''[1]

नवगीतकार आने वाले समय के प्रति आशंकित और भयभीत है। इसीलिए वह हमें सचेत करते हुए कहता है –

''आने वाले हैं
ऐसे दिन आवे वाले हैं
जो आँसू पर भी पहरे

1. देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र', नवगीत अर्धशती, पृ. 148

बैठाने वाले हैं,

आकर आस–पास भर देंगे

ऐसी चिल्लाहट

सुन न सकेंगे हम अपने ही

भीतर की आहट

शोर शराबे

ऐसा दिल दहलाने वाले हैं।''[1]

इसी संदर्भ में श्री कृष्ण शर्मा कहते हैं –

''हे पिता ! यदि हो कहीं

तो क्या लिखूँ तुमको

बस यही जो जिस तरह था

उस तरह ही है।''[2]

दिनेश सिंह ने 'रसोइये का गीत' में अम्मा और बहना के प्यार की दुर्लभ स्थिति को चित्रित किया है। उनके गीतों की यह विशेषता है वह पाठक या श्रोता को संवेदना के स्तर पर आत्म विभोर कर देते हैं। यथा –

''दुख मेरे मैके से आया

सासू का बड़बोला जाया

सुख की खेती जोते–बोये

बासंती आठ पहर रोये

1. माहेश्वर तिवारी, भव्य भारती, नवगीत शिखर अंक, पृ.43

2. श्रीकृष्ण शर्मा, आजकल–जुलाई–78, पृ. 13

'भुखिया' ना अंगरेजी जाने

चूल्हे की रोटी पहचाने

सेन्दुर के रंग सनी बड़ की

तानों की पिचकारी ताने

रंग धुले छिन-छिन पर काया

जूठी थाली जैसी माया

माई की सुधि हिया करोये

बासंती आठ पहर रोये।''[1]

रामदरश मिश्र जी कहते हैं -

''यह मेरा गाँव नहीं

कहाँ आ गया हूँ मैं

टूटे पेड़ों का सन्नाटा

उग रहा हवाओं में काँटा

पक्की दीवारों के नींचे

मिट्टी-सा दब-दबा गया हूँ मैं।''[2]

उमाकान्त मालवीय लिखते हैं -

''निगल गये पनघट को

सड़कों के नल

बेबस, बेपर्द देह, दृष्टि उठी जल

1. दिनेश सिंह, नवगीत दशक-3. पृ.121

2. रामदरश मिश्र, भव्यभारती-नवगीत शिखर अंक, पृ. 25

आँगन–दालानों को

तरस गये घर

खोली–दर खोली से घर गये उघर।''[1]

सूर्यभानु गुप्त कहते हैं –

''खण्डहर हो गये गाँव

भूतों का वास हुआ

बप्पा भइया, काका

हर नाता घास हुआ।''[2]

श्याम सुन्दर दुबे लिखते हैं –

''आँधियाँ चटका गयी हैं

बाँह जब से

हो गयी गुमसुम हमारे द्वार की जामुन

कटे बाजु से पिता के

बंट गये आँगन

बहुत भारी है तभी से माँ का मन

आंच सूने काँच की

पी गई है, सदा नीर हंसी को

चेहरे बचे हैं रेत।''[3]

---

1. उमाकान्त मालवीय, सुबह रक्त पलाश, पृ. 35
2. सूर्यभान गुप्त, रविवार, 3 दिसम्बर, 1978 अंक, पृ. 8
3. श्याम सुंदर दुबे, नवगीत दशक–3, पृ. 183

इसी क्रम में आगे वे लिखते हैं –

पाहुन गाम की कहो
गुबरीले हाथों में
झाड़ू थामे सीता
भीगत पसीने में राम की कहो !
पहुँच सकी है क्या कुछ
वहाँ गली–गलियारे
पारिजात की भीनी गन्ध
क्या पीले पपड़ाये
होठों का जुड़ पाया
जीते छन्दों से सम्बन्ध
बहती है गर्म नदी
तेज दहकता सूरज
कहो तनिक
उसी सूरज घाम की कहो।''[1]

नवगीत में सुखद पारिवारिक एवं सांस्कृतिक संदर्भों को प्रतिबिम्बित करने वाले परिवेश में अवगुण्ठित करने वाली बहुएँ हैं। महावर रचे पाँव हैं, मेंहदी रचे हाथ हैं, पान रचे होंठ हैं, कजरारी आँखें हैं, सिन्दूर बसी माँग है, लहंगा फरिया, ओढ़नी, चूनर, करधनी, बिछुआ, कंगन, नथुनी, नपुर, हंसुली और पायल–बैंजनी जैसे साजो सामान हैं। आम के नीचे झूंले झूलती गाँव की किशोरियाँ हैं, भेड़–बकरियों के झुण्ड हैं,चरवाहे

1. श्याम सुंदर दुबे, नवगीत दशक–3, पृ. 185

हैं, बंशी और मादल के गूँजते स्वर, कजरी, विरहा, रसिया, होली के गीत गाते नौजवान देहरी पर बैठी हुई काली चाची और भी बहुत कुछ है जो गाँवों की सुखद पारिवारिक संस्कृति की याद ताजा करते हैं। गाँव के परिवेश में पारिवारिक सम्मोहन का स्वर उभारते हुए अनूप अशेष कहते हैं –

''गाँव हमारा

परदादा की मोह–मुहब्बत का

पान–पतौखी

तीज–कजलियों

रिश्तों सोहबत का

अपनी सीधी चाल चलन है

यहाँ न भरमाना

भैया

शहर नहीं आना !

गाँव हमारा

अम्मा–बाबू की आशीषों का

हंसी–ठिठोली

पीहर–सासुर, चेहरों शीशों का

शील शरम सब यहाँ बिकाऊ

बम्बइया बाना, भैया !

शहर नहीं आना।''[1]

---

1. अनुप अशेष, नवगीत दशक–2, पृ. 38

इस गीत में पारिवारिक का आन्तरिक स्नेह और प्रेम अभिव्यक्त हुआ है। इसी तरह के परिवार का यह दृश्य देखें जिसमें गुलाब सिंह ने बड़ी मार्मिकता से एक-एक चित्र उकेरा है और जिसे पढ़ते ही दृष्टि पटल पर एक दृश्य उपस्थित हो जाता है।

''हरे लहरे खेत से टहकारती सोना पतारी

ले रहे बाबा हरी का नाम

खींचती अम्मा 'पकड़कर कोर चादर की

उठी दीदी, जगीं अंगड़ाइयाँ

खनकता आँगन संवरते बरतनों से

लीपती चौका-ओ

सारा भोर-सी यों भौजाइयाँ

दोहनी में धार, तार सितार के बजते

सुबह के संगीत होते काम।''[1]

बाबा नागार्जुन का भी यह गीतांश देखें जिसमें बहुत दिनों के बाद घर-परिवार में आयी खुशहाली का बयान अत्यन्त मार्मिक रूप से किया गया है।

''बहुत दिनों के बाद

अबकी मैंने देखी जी भर

पकी सुनहली फसलों की मुस्कान

बहुत दिनों के बाद

अबकी मैं जी भर सुन पाया

धान कूटती किशोरियों की

1. गुलाब सिंह, धर्मयुग-अगस्त 84, पृ. 33

कोकिल कंठी तान

बहुत दिनों के बाद

अबकी मैंने जी भर सूंघे

मौंलसिरी के ढेर–ढेर से

ताजे टटके फूल

बहुत दिनों के बाद।

अबकी मैंने जी भर

तालमखाना खाया

गन्ने चूसे जी भर

बहुत दिनों के बाद।''[1]

अनूप अशेष का एक और नवगीत खण्ड देखें जिसमें घर–परिवार और गाँव की नैसर्गिक सुन्दरता और खुशहाली की चर्चा की गई है –

"माँ का प्रतिबन्ध मेरा गाँव

मन का अनुबन्ध

मेरा गाँव।

नइइर–से हरे खेत

पीहर–सी

मेड़

बोलता प्रतीकों में

1. नागार्जुन, नवगीत अर्धशती, पृ. 145

बरगद का पेड़

पान का प्रबन्ध मेरा गाँव

मन का अनुबन्ध

मेरा गाँव।''[1]

उमाकान्त मालवीय लिखते हैं –

''भइया को देती अंकवार

सखियों के रूँधे हुए बैन

प्रियतम संग बीती जो रैन

दोनों ही करते बेचैन

दो सुधि में सखि का है

जीना दुरवार

भाभी को देती अंकवार।''[2]

अपने निबंध **'कविता क्या है?'** में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं कि "प्रकृति का उन्मुक्त लोक महानगरों में नहीं मिलता और उसके बगैर रहा नहीं जाता।"[3] तो प्रवृत्ति और प्रकृति के बीच मानव अनुभूति के संश्लिष्ट चित्र, उन दृश्यों की यादें, उन अनुभवों को पुनः पाने की लालसा और तब गावों, कस्बों की गोद और गलियों में बच्चे की भांति दुबकने की उत्कण्ठा, महानगरीय सभ्यता के आवरण को भेदकर नैसर्गिक जीवन और निश्छल आचार की ओर प्रेरित करती है। नवगीतकार सत्यनारायण दुबे को भी जब अपना बचपना याद आता है तो लिखते हैं –

1. अनूप अशेष, नवगीत दशक–2, पृ. 44
2. उमाकान्त मालवीय, महेदी और महावर, पृ. 30
3. चिंतामणि भग–1, पृ. 23

"बच्चे जैसे
कथा कहानी
परी–देश के
स्वप्न सरीखे
दीखे, खुल–खिल
हंसते दीखे
जैसे झिलमिल
चाँद सितारे
जैसे, कलकल
बहता पानी
इनकी तुतली
तुतली भाषा
मेवा मिसरी
दूध बताशा
काँच रबड़ के
खेल–खिलौने
गुड्डे गुड़िया
राजा रानी।"[1]

नवगीत में दाम्पत्य प्रेम उद्भावना के अनेक ऐसे प्रसंग मिलते हैं –

1. सत्यनारायण, भव्यभारती नवगीत शिखर अंक, पृ. 23

''टूटे आस्तीन का बटन
या कुर्ते की खुले सियन
कदम–कदम पर मौके याद तुम्हें करने के
अरसे से बदला रूमाल नहीं
चाभी क्या जाने रख दी कहाँ
दर्पण पर सिन्दूरी छींट गही
चीज नहीं मिलती रख दो जहाँ
चौके की धुँआती घुटन
सुग्गे की सुमरिनी रटन।''[1]

नवगीत की जमीन वस्तुतः मानवीय संबंधों की संवेद्य भावनाओं पर आधारित है। संवेदनाएँ मनुष्य की अंतस्थ विचारशरणियों को प्रभावित करती हैं, मनुष्य के सारे आचार, व्यवहार तथा उसकी गति विधियाँ एवं उसके क्रिया कलाप उसके मन की संवेद्य भावनाओं से स्पर्शित अवश्य रहती हैं। संवेदनाओं का एक बहुत विस्तृत आकाश है–जिसमें–भावनाएँ, कल्पनाएँ तथा मन के सुकोमल निर्धारण सन्निहित रहते हैं। नवगीत की धुरा इन्हीं मानवीय संवेदनाओं पर अधिक आधारित है जहाँ सजीव और निर्जीव चल एवं अचल स्थिर तथा अस्थिर सभी प्रकार के परिदृश्य और संबंध वर्ण्य बनकर प्रस्तुत होते हैं जैसे–राष्ट्र मातृभूमि, पवित्र नदियाँ हिमालय, गोवर्धन, गिरिराज, गाँव, शहर, घर, आँगन, अटा, अटारी, जैसे स्थिर बिम्ब भी इन नवगीतों में संवेदना के स्तर पर व्यक्त होकर हमारे अपने नीति, आस्था, श्रद्धा, समपर्ण और प्रेम की अभिव्यक्ति बनकर सामने आते हैं।

1. उमाकान्त मालवीय, एक चाँवल नेह भींजा, पृ. 18

गीतों में संवेदनाओं का संसार परिकल्पनाओं एवं वायवी भावनाओं पर अधिक केन्द्रित रहा है, जहाँ मनुष्य अपनी अन्तस्थ आस्थाओं और श्रद्धाओं को प्रकारांतर से उसे व्यक्त करता रहा है। गीतों में अधिकांश वर्ण्य गगनचारी परिकल्पनाओं के रंगीन और मनमोहक परिदृश्यों से संलग्न रहे हैं, जहाँ प्रेम में संयोग के सौख्य भी हैं और वियोग के अवशाद भी। जहाँ सुख–चैन के मदरिम क्षण भी हैं तो दुख–दर्दों की आँसू भरी कथाएँ भी हैं, किन्तु ये सब नितान्त वैयक्तिक अनुभूतियों तक केन्द्रित रहे हैं।

नवगीतों का कथ्य और वर्ण्य अधिकांशतः यथार्थवादी जमीन पर अंकुरित हुआ है, जहाँ संवेदना के जीवन्त क्षण अनुभव किये जा सकते हैं। जहाँ केवल नायक–नायिकाओं के मध्य प्रेम व्यापार ही नहीं चलता बल्कि नवगीतों के परिदृश्य में माँ, पिता, पितामह, नारी, पुरुष, बेटी, बहन, पड़ौसी, बच्चे, बूढ़े, सगे–संबंधी और ढेर सारे आत्मीय रिश्तों के विस्तृत संबंध हैं जो यथार्थवादी जीवन्त तथ्यों पर आधारित हैं।

नवगीत का वर्ण्य आम आदमी के घर से जुड़ा है, अब वह घर चाहे झुग्गी झौपड़ी है, फ्लेट या टेनामेन्ट है, या मकान, हवेली के रुप में है, नवगीत इन सभी घरों में ताक–झाँक करता प्रतीत होता है। साठोत्तर अधिकांश नवगीतकारों ने घर को अपने अपने ढंग से गीतांकित किया है। कुछ विशिष्ट कवियों के कथ्य द्रष्टव्य हैं –

विद्यानंदन राजीव कहते हैं –

" ईंट पत्थर के नहीं

घर

प्रीतिकर संबन्ध रचते हैं।

घर वही

जिस में बसे जन

मग्न हों

संवाद की लय में

हो नहीं, छल–कपट

उनके, रोज के

अविराम अभिनय में,

नित सुवासित

शब्द–सुमनों से

कि जो मकरन्द रचते हैं।

बोल जिनके

नित नये परिधान

पहने, गीत होते हैं

बचन दते समय

मन से, जो कि

परम पुनीत होते हैं,

जो कि अनजाने

किसी नवगीत का

अपना लयाश्रित छंद रचते हैं

ईंट पत्थर से नहीं–घर, प्रीतिकर संबन्ध रचते हैं।''[1]

1. विद्यानंदन राजीव, प्रेसमेन, संपा. मयंक श्रीवास्तव, अंक– 16 अगस्त 08, पृ. 8

देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' का कथ्य है –

"बहुत पहले बहुत पीछे
मैं जिसे था छोड़ आया
ढूंढ़ता हूँ उसे
मेरा घर कहाँ है।
यहाँ तो बस
ईंट के सीमेन्ट के
जंगल उगे हैं, हर दिशा में
यह शहर
क्यों प्रेत जैसी
कर रहा शव–साधना काली निशा में
हव तीखी
चुभ रही नश्तर सरीखी
प्यास के जलते क्षणों में
खोजता हूँ
रेत में निर्झर कहाँ है।
डूबते मझधार में कुछ लोग
नौकाहीन
कोई क्यों बचाये
भीड़ है तट पर खड़ी चुपचाप

दर्शक की

सफल मुद्रा बनाये

कौन पत्थर

जड़ गया संवेदना पर

विष उबलता है वर्णों में

पूछता हूँ नींद से

बिस्तर कहाँ है?''[1]

भरत भूषण के अनुसार –

"मैं गीत बेचकर घर आया

सीमेंट ईंट लोहा लाया

कवि मन माया ने भरमाया

हे ईश्वर मुझे क्षमा करना।

जनमा था आंसू गाने को खोया झूठी मुस्कानों में

भीतर का सुख खोजता फिरा बाहर से सभी दुकानों में

मैं अश्रु बेच कर घर आया प्लास्टिक के गुलदस्ते लाया

अपनी आत्मा को बहकाया हे ईश्वर मुझे क्षमा करना।

शब्दों शब्दों सौन्दर्य गढ़ा नगरों नगरों नीलाम किया

संतों की संगत छोड़ किसी वेश्या के घर विश्राम किया

मैं प्यार बेचकर घर आया चुटकी भर सुविधाएं लाया

क्या करना था क्या कर आया हे ईश्वर मुझे क्षमा करना।

1. देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र', प्रेसमेन, संपा. मयंक श्रीवास्तव, अंक– 16 अगस्त 08, पृ. 2

सारे दागों को ढके रहा छंदों की शिल्पित चादर से

गोरे कागज काले करता टेढ़े हस्ताक्षर से

मैं शर्म बेचकर घर आया काले रंग का चश्मा लाया

दर्पण पर परदा लटकाया हे ईश्वर मुझे क्षमा करना।

मैं गीत बेच कर घर आया।''[1]

सत्यनारायण ने अपने ढंग से घर को व्याख्यायित किया है –

"आ गए हैं हम

नये इस फ्लेट में, पर

पूछती है माँ –

कहाँ है घर?

है कहाँ

ओटा, ओसारा

और वह दालान

नीम की

वह छाँव झिलमिल

ओस की मुस्कान

अब कहाँ वह चाँदनी

वह धूप

आँगन भर?''[2]

---

1. भारत भूषण, प्रेसमेन, संपा. मयंक श्रीवास्तव, अंक– 16 अगस्त 08, पृ. 3

2. सत्यनारायण, वही, पृ. 3

कुमार रवीन्द्र कहते हैं –

"हां, यह सच है
किसिम–किसिम के घर होते हैं।
कुछ होते हैं अच्छे कुल के
लेकर साथ
सभी को चलते
कभी नहीं वे सकुचाते हैं
उनमें
पशु–पक्षी भी पलते
पीढ़ी–दर–पीढ़ी
आंगन में
नेह प्यार ही वे बोते हैं।
होते कई
बड़े झगड़ालू
रोज़ उपद्रव होते उनमें
उनको आता नहीं, साधुओं
अंतर करना
गुन–अवगुन में, बूढ़े जो हैं
झल्लाते हैं, बच्चे हैं जो, वे रोते हैं।"[1]

1. कुमार रवीन्द्र, प्रेसमेन, संपा. मयंक श्रीवास्तव, अंक– 16 अगस्त 08, पृ. 3

गुलाब सिंह के अनुसार –

"घर भीतर माँ
गोधूलि की तरह
सब का मतिभ्रम ढके हुए।
डूबते सूर्य से
थके पिता
जाते–जाते भी रुके हुए।
दरवाजे पर रख सूनापन
कुछ–कुछ निष्प्रभ हो चला गगन
हल्दी के रंग में
रंगे रूप
दीपक की लौ पर झुके हुए।
कद के सँग परछाई डोले"[1]

अवध बिहारी श्रीवास्तव घर के लिए कहते हैं –

"वैसे तो माटी माटी है,
मेरे बाबा वाला वह घर,
लेकिन यादों का राजमहल,
उस घर का कोना कोना है।
भाभी की चमक ठिठोली है,

1. गुलाब सिंह, प्रेसमेन, संपा. मयंक श्रीवास्तव, अंक– 16 अगस्त 08, पृ. 3

माँ के आँचल की छाया है,

दादी की परी कथाओं का

वह जादू है, वह टोना है।

हम हँसते थे 'घर' हँसता था,

फिर यादों में खो जाता था।

मैंन देखा है कभी–कभी

'घर' भूखा ही सो जाता था।

मुझको तीजों त्यौहारों पर

दरवाजे पास बुलाते थे।

खिड़कियाँ झांकती रहती थीं,

कमरे रिश्ते बतलाते थे।

आँगन में चलती हुई धूप,

कल्पना लोक में चाँदी है,

दीवारों पर सूखती हुई,

मक्के की बाली सोना है।''[1]

राम बाबू रस्तोगी के अनुसार –

''दूध नहीं

अब लात मारती है घर की गैया।

जाने कैसे मंत्र बहू ने

कमरे में फूँके

1. अवध बिहारी श्रीवास्तव, प्रेसमेन, संपा. मयंक श्रीवास्तव, अंक– 16 अगस्त 08, पृ. 3

बेटा भूल गया अम्मा से

बाबा से रिश्ते।

आँख बचाकर

देहरी से निकले राजा भैया।''[1]

श्रीकृष्ण शर्मा कहते हैं –

"दूर घर से दूर,

कितना आज यह टूटा हुआ मन है?

उदासी घिर रही है शाम के माहौल के संग–संग,

कि फीका पड़ चला है अब प्रवालों का चमकता रंग,

बहुत ही अनमना–सा व्योम में है एक ही नक्षत्र,

मेरे किन्तु चारों ओर घिर आया गहन वन है।

घर से दूर, कितना आज यह टूटा हुआ मन है?

छिपा है रात के पहले प्रहर में ही निकल कर चाँद,

कैसी जिन्दगी यह, सिर्फ जिसका एक–सा ही स्वाद?

जाने किस धरातल पर उतरते रोज ही सपने?

मगर खोया अपरिचित–से ख्यालों में अचेतन है।

घर से दूर, कितना आज यह टूटा हुआ मन है?''[2]

महेश अनघ के अनुसार –

''हौआ का डर है, द्वारे पर स्वस्तिक अंकित है

---

1. रामबाबू रस्तोगी, प्रेसमेन, संपा. मयंक श्रीवास्तव, अंक– 16 अगस्त 08, पृ. 4

2. श्रीकृष्ण शर्मा, वही.

हाँ यह घर जीवित है।

छोटे बड़े पाँच बर्तन हैं, रोज ठनकते रहते

जलते घिसते और चमकते, यों ही थकते रहते

दिन भर अवध राजधानी है, रात हुई वृन्दावन

चटनी पापड़ सी मनुहार करेले जैसी अनबन

रितुओं से रिश्ता है, बारहमासा परिचित है

हाँ यह घर जीवित है।

मिर्ची जली पतीली खनकी, गत गूंजी छम छम की

चुहल कर रही ब्याही आँखें, क्वाँरी आँखें चमकी

म्याऊँ के डर से माखन का छींका कांप रहा है

ता थैया करता नन्हा अपना कद नाप रहा है

सत शिव बाखर में, सुन्दर घूंघट में सीमित है

हाँ यह घर जीवित है।''[1]

योगेन्द्र दत्त शर्मा के कथ्य का अपना अंदाज है –

''तुम गये

गई खुश्बू

घर के अहसास की।

बुन रही उदासी

हर चीज आसपास की।

1. महेश अनघ, प्रेसमेन, संपा. मयंक श्रीवास्तव, अंक– 16 अगस्त 08, पृ. 4

झींखना तुम्हारा वह
बच्चों की चिल्ल-पों
दृश्य वे उपस्थित अब
जाने कब तक न हों
कसमसा रही रह-रह
डाल अमलतास की।
कमरे तक आता हूं
मुड़ जाता द्वार से
बोझिल हैं पांव, दबा मन
अजीब भार से
पढ़ रहा व्यथा सागर
सीपी-भर प्यास की।''[1]

डॉ. राजेन्द्र गौतम का कहना है –

''वन में फूले अमलतास हैं
घर में नागफनी।
हम निर्गंध पत्र-पुष्पों को
दे सम्मान रहे
पाटल के जीवन्त परस से
पर अनजान रहे

1. योगेन्द्र दत्त शर्मा, प्रेसमेन, संपा. मयंक श्रीवास्तव, अंक– 16 अगस्त 08, पृ. 4

सुधा कलश लुढ़का कर मरु में
करते आगजनी।
तन मन धन से रहे पूजते
सत्ता सिंहासन
हर भावुक संदर्भ यहाँ पर
ढोता निर्वासन
राजद्वार तक जो पहुँचा दे
वह ही राह चुनी।''[1]

मयंक श्रीवास्तव के स्वरों में –

''जब से अपना घर पूछा है
मेरे लड़के ने
मुझको आकर
घेर लिया है
एक धुंधलके ने।
पहली बार लगा मुझको
मैं कितना बौना हूँ
इस जग के निष्ठुर हाथों का
एक खिलौना हूँ
मेरे पांव

---

1. डॉ. राजेन्द्र गौतम, प्रेसमेन, संपा. मयंक श्रीवास्तव, अंक– 16 अगस्त 08, पृ. 5

SMT. HANSA MEHTA LIBRARY • The M. S. University of Baroda

उखाड़ दिए

छोटे से झटके ने।

आंखों में बुन गया जाल

मै जिसमें झूल गया

अपनी बोल चाल की भाषा

तक मैं भूल गया

कितनी बार

घरोंदे फोड़े

ऊँचे तबके ने।''[1]

डॉ. प्रतीक मिश्र की परिकल्पना द्रष्टव्य है –

''कितना अच्छा था अपना घर

घर झूंझा–फूंका होता था

फिर भी घर में सब रहता था,

ऐसा घर देखा है न कहीं

हर आने वाला कहता था

सुख मिलता था रिश्तेदारों–

नातेदारों को घर आकर।

तब कभी–कभी तो दो धेले

तक घर में नहीं निकलते थे,

---

1. मयंक श्रीवास्तव, प्रेसमेन, संपा. मयंक श्रीवास्तव, अंक– 16 अगस्त 08, पृ. 5

पर मां के हाथों की बरकत

सब काम धूम से चलते थे

अब, सब है, पर प्रतिपल रहता

है, बजट फेल होने का डर।''[1]

वीरेन्द्र आस्तिक कहते हैं –

''रोज कहते हैं

कि घर है।

एक मंदिर की तरह

आप ही कहिए

कि कह हालात पाएंगे नहीं

आइने का टूटना था

आप खुल कर आ गए

चीज भी क्या चीज थी

प्रतिबिम्ब सब घबरा गए

रो पड़ी बिटिया

इसे क्या

चुप कराएंगे नहीं''[2]

डॉ. राधेश्याम शुक्ल के अनुसार –

''कालोनियाँ उगीं चौतरफा,

---

1. डॉ. प्रतीक मिश्र, प्रेसमेन, संपा. मयंक श्रीवास्तव, अंक– 16 अगस्त 08, पृ. 5

2. वीरेन्द्र आस्तिक, वही.

महँगे हुए शहर,

नहीं मयस्सर हुआ उम्र भर

मुझको "अपना घर"।

लाखों की कोशिशें,

हाथ मुँह तक ही उठ पाए,

खून–पसीना बेंच,

गिनी कौड़ी ही घर लाए।

आग पेट की बुझी इधर,

तो उघरी पीठ उधर।

"चुन्नी जोग" देख बिटिया को,

नींद हराम हुई,

लाचारी असमय सरेख,

बेटे के नाम हुई।

धुना रुई–सा दोनों ने है

मुझको 'गाँव–शहर'।"[1]

दीनानाथ श्रीवास्तव कहते हैं –

"बिलखता है पिता का घर

सघन अँधियार में डूबा

बिलखता है पिता का घर

---

1. डॉ. राधेश्याम शुक्ल, प्रेसमेन, संपा. मयंक श्रीवास्तव, अंक– 16 अगस्त 08, पृ. 6

उपेक्षित रह गये हैं राम
प्रिय घनश्याम आलों में
बनी है ठूठ तुलसी बिना जल
औ' दीप थालों में
जगाते अब न किलकारी
मधुर वे आरती के स्वर''[1]

मधुकर अष्ठाना के घर को देखिए –

''घर में जाने कितने
घर होते हैं
कौने–कौने
अनजाने डर होते हैं।
कदम–कदम पर रूढ़ विचारों की
शंकित दीवारें
विजयी अल्पज्ञता
निराशायें विश्वास सँवारें
अमन चैन के
दो पल दूभर होते हैं।
चतुर मकड़ियाँ जाले तानें
चूहें भी बिल खोदें

---

1. दिनानाथ श्रीवास्तव, प्रेसमेन, संपा. मयंक श्रीवास्तव, अंक– 16 अगस्त 08, पृ. 5

कहाँ–कहाँ कैसे

जलते बंजर में खुशियाँ बो दें

सहके अलग–अलग

चुभते स्वर होते हैं।''[1]

ओमप्रकाश सिंह कहते हैं –

''माटी का घर

तोड़ बनाया

अब पत्थर का घर।

हम पत्थर की

मूरत जैसे

हैं संवेदनहीन

रिश्तों के

स्नेहिल आंगन में

एक कोख के तीन

पथराये

मन के दर्पण में।

अब पत्थर का घर।''[2]

निर्मल शुक्ल के अनुसार –

''सबके अपने अपने घर हैं

---

1. मधुकर अस्थाना, प्रेसमेन, संपा. मयंक श्रीवास्तव, अंक– 16 अगस्त 08, पृ. 6

2. ओम प्रकाश सिंह, वही

कुछ माटी के

कुछ चन्दन के।

शब्द किसी के मिले सघन तो

मिले किसी के अक्सर खाली

संवेदन आहत हैं कुछ के

कुछ को अनगिन मिलती ताली

घर में सबके अपने ज्वर हैं

कुछ बन्धन

कुछ अभिनन्दन के।

कुछ समास में ही जीते हैं

लगे हुए कुछ तोड़–फोड़ में

मौलिकता में बेसुध तो कुछ

केवल हैं सबके मत–मन्तर हैं

कुछ यौगिक

कुछ परिवर्तन के।''[1]

देवेन्द्र आर्य कह रहे हैं –

''ईंट गारे से बना है

बहुत सुन्दर घर

क्या करूं

1. निर्मल शुक्ल, प्रेसमेन, संपा. मयंक श्रीवास्तव, अंक– 16 अगस्त 08, पृ. 6

इसमें जरा भी मन नहीं लगता।

ना कभी

अठखेलियाँ करता हुआ बचपन

आए–गए कितने

कि मधुमास मन भावन

एक कबिरा

बुन गया चादर बहुत झीनी

क्या करूं

तब से कि घर में मन नहीं लगता।

चाहता था सींचना

घर–भाव से जीवन

हो सभी के साथ सुख में

दर्द में आँगन

पर कहाँ

अलगाँव की विषबेल उग आई

क्या करूं

समभाव वाला मन नहीं लगता।''[1]

मधुसूदन साहा ने घर को व्यक्त करते हुए कहा है –

''सभी चाहते

अगवानी में

1. देवेन्द्र आर्य, प्रेसमेन, संपा. मयंक श्रीवास्तव, अंक– 16 अगस्त 08, पृ. 7

आँख बिछाये घर।

बाहर भले धूप हो लेकिन

आँगन में हो छाँह

हर क्षण दोनों ही दरवाजे

रहे पसारे बाँह,

पिछवारे की

निमिया राहत

दे सारी दुपहर।''[1]

यश मालवीय का मानना है –

''सोच रहा परदेसी

कैसे होंगे घर के दिन

आँगन में तुलसी का बिरवा

झूम रहा होगा

घुटनों पर घर भर में बेटा

घूम रहा होगा

लेकिन नींद न आयी होगी

उसको मेरे बिन

कंधे में सिन्दूर लगाकर

माँग भरी होगी

1. मधुसूदन साहा, प्रेसमेन, संपा. मयंक श्रीवास्तव, अंक– 16 अगस्त 08, पृ. 7

दरपन के आगे जाते ही

आँख भरी होगी

पोंछ लिये होंगे पल्लू से

आँसू के पल छिन''[1]

मुकुट सक्सेना के भाव देखिए –

''मेरे गांव कहां अब छप्पर, कंकरीट के घर हैं

अलगोजों की धुने कहां हैं, बन्दूकों के डर हैं।

रखी हुई हैं रिस्टवॉच में बारूदी शंकाएं

ढाणी ढाणी बनी हुई हैं रावण की लंकाएं

राजनीति चौराहे पर हतप्रभ सी खड़ी हुई है

आज अहिंसा के कांधों चढ़ हिंसा बड़ी हुई है

ऐसे में करुणा से कोई कैसे ब्याह रचाए

अब इन्सानी रिश्तों के मन रखे हुए पत्थर हैं।''[2]

दिनेश प्रभात कहते हैं –

''कुछ दिनों से लग रह है,

घर हमारा इक महल–सा।

आ गये बच्चे हमारे,

आजकल छुट्टी मनाने।

उम्र के अनुपात में,

---

1. यश मालवीय, प्रेसमेन, संपा. मयंक श्रीवास्तव, अंक– 16 अगस्त 08, पृ. 7

2. मुकुट सक्सेना, वही, पृ. 8

लगने लगे ज्यादा सयाने।

दे रहा आभास बेटा,

धान की पक्की फसल-सा।

पाँव बेटी के पड़े तो,

द्वार आँगन मुस्कुराये।

झूमकर दहलीज ने भी,

खूब स्वागत गीत गाये।

मौन सी दीवार का भी,

खिल उठा चेहरा कमल-सा।''[1]

जवाहर इन्द्र का मानना है –

''घर न टूटे

इसलिए खुद टूटकर

जोड़ता हूँ घर।

घर रहे घर

ताकि, आँगन खिलखिलाये।

एक चूल्हे की, बनी रोटी

सभी मिल साथ खायें।

किन्तु ऐसा, समय आया, समय पर

उसकी लगी हैं बदनज़र।''[2]

---

1. दिनेश प्रभात, प्रेसमेन, संपा. मयंक श्रीवास्तव, अंक– 16 अगस्त 08, पृ. 7
2. जवाहर इन्द्र, वही, पृ. 9

दिवाकर वर्मा नीड़ के निर्माण की बात करते हैं –

''साध चिरसंचित ह्रदय में अब हुई क्रियामाण।

फिर पखेरू ने किया है नीड़ का निर्माण।

अब सभी भय

गल गये हैं गर्म लपटों के,

पतझड़ों से उठ रहीं

बेशर्म झपटों के,

अब न रोके से रुके कादम्बरी का गान।

भले अंगारा लिखे

अब चाँदनी का भाग्य,

और सागर बने चाहे

लहर का सौभाग्य,

एक सम्बल गिरा देगा दर्प का दिनमान।''[1]

यतीन्द्र नाथ राही कहते हैं –

''एक अदद छत

कुछ दीवारें

ऊँचे खड़े बुर्ज–मीनारें

भव्य कक्ष

सुन्दर वातायन

1. दिवाकर वर्मा, प्रेसमेन, संपा. मयंक श्रीवास्तव, अंक– 16 अगस्त 08, पृ. 9

झूमर–झालर

धज मन भावन

राज पंथ पर

जो टॉवर हैं,

यह तो नहीं हमारा घर है।''[1]

घर के संदर्भ में नवगीत के कथ्य अधिकांशतः मध्यमवर्गीय परिवारों तक अधिक केन्द्रित रहे हैं। आम आदमी के परिवार तक परिभ्रमण करने वाले ये नवगीत आत्मीय सम्बन्धों की गहन संवेदनाओं से भी सम्पृक्त रहे हैं।

ऐसे सम्बन्धों में पिता, माँ, बहन, बेटियाँ, नारियाँ आदि संज्ञाओं से जुड़ कर नवगीतकारों ने बहुत ही स्वाभाविक मर्मस्पर्शी चित्र प्रस्तुत किए हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं जैसे –

माँ : **''देह में जलने लगी बहती नदी है।**

सांस लेने में लगी पूरी सदी है।

चेतना पर धुंध छाई है,

माँ तुम्हारी याद आई है।''[2]

पिता : **''हम से मत पूछिये,**

हमारे कैसे जिये पिता?

बूँद बूँद से भरा किए घर

खुद खाली होकर

काँटे–काँटे जिये स्वयं

1. डॉ. विष्णु विराट, हाथ से छूटे कबूतर, पृ. 21

हमको गुलाब बोकर,

हमें भगीरथ बन

गंगा की लहरें सोंप गए

खुद अगत्स्य बन

सागर भर–भर

आँसू पिये पिता !''[1]

इस प्रकार के आत्मीय भावात्मक कथ्य नवगीतों में बिखरे पड़े हैं। आम आदमी की प्रत्यक्ष भागीदार इससे प्रमाणित होती है।

1. डॉ. विष्णु विराट, रचना कर्म, अंक–18, पृ. 26